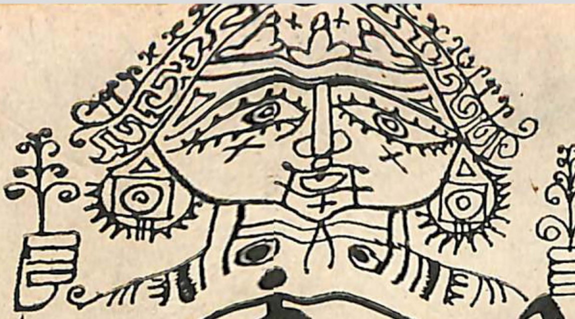

# कल्की

लक्ष्मीनारायण लाल

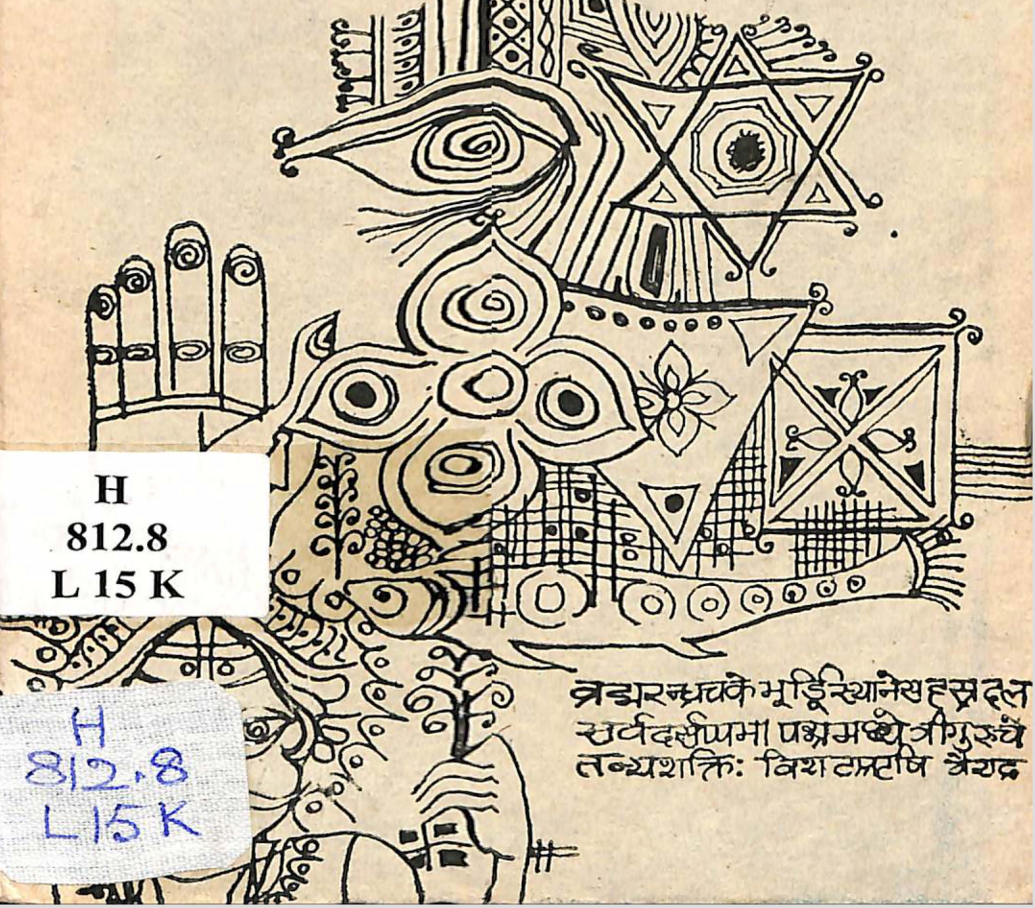

H
812.8
L 15 K

H
812.8
L15K

INDIAN INSTITUTE OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY SIMLA

कलंकी

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

# कल्की

लक्ष्मीनारायण लाल

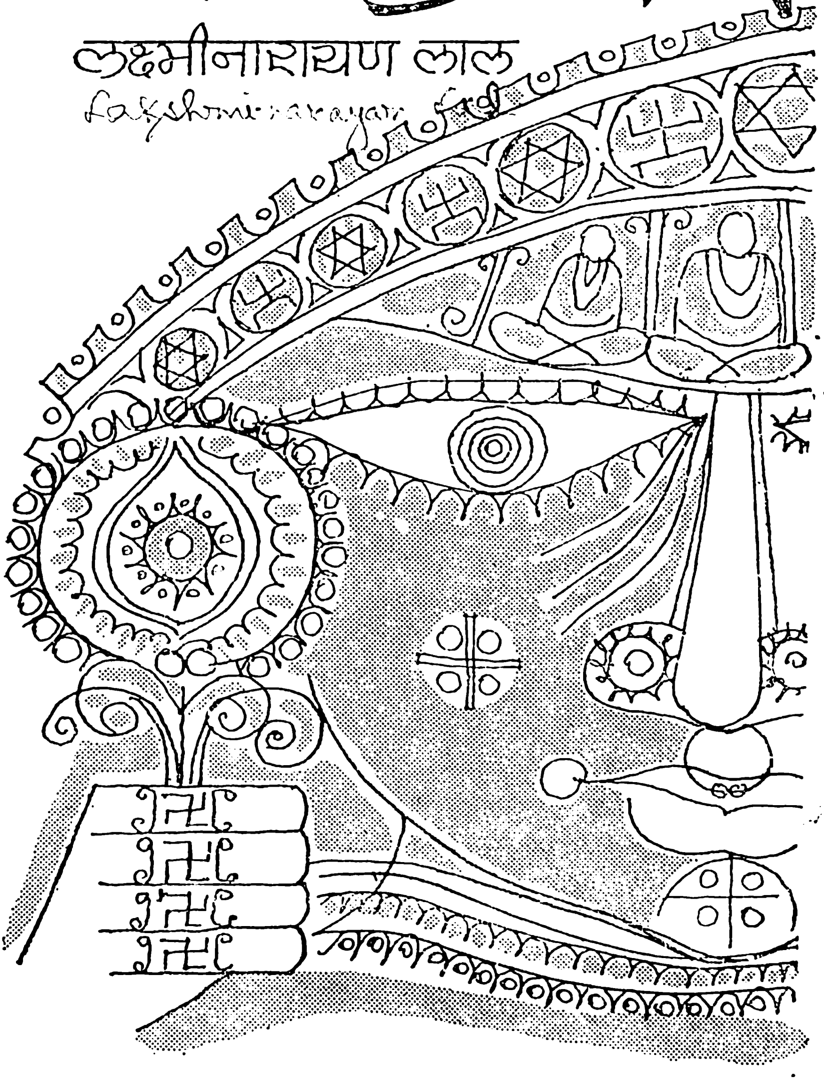

1969

13

© १९६९, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

Library IIAS, Shimla
H 812.8 L 15 K
00039869

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 39869
Date 21. 6. 72
SIMLA

H
812.8
L15 K

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे
प्रथम संस्करण, १९६९

० ०

आवरण : सुकुमार चटर्जी

० ०

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२/३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

# कलंकी रंगमंच

## एक प्रसंग

○ ○

कविता-कहानी की भाँति, भारतीय नाटक उस स्तर से आधुनिक क्यों नहीं हो पाता, इसका मूल कारण है कि इस क्षेत्र में हर नये नाटककार को रंगमंच के प्रतिष्ठित मूल्यों के बीच अपना जन्म लेना पड़ा है। और प्रतिष्ठा के लिये उसे स्वभावतः उसी स्थापित की पंक्तिवद्धता स्वीकार करनी पड़ी है।

नये की रचना में जिस आत्मत्रास, निर्मम विरोध का सामना करना पड़ता है और जिस काट को उसे भोगने का भय होता है, इससे वच निकलने का वही एक राजमार्ग है कि वह स्थापित मूल्यों को चुपचाप स्वीकार कर ले और सुरक्षित-सुखी रहे। पर वास्तविक रचनाकार का यह मार्ग नहीं। उसे चातुर्दिक् विरोध और संकट की आग के भीतर से डूवकर जाना होगा। अर्थात् उसे प्रतिष्ठित-स्थापित को अस्वीकार करना होगा; यहाँ तक कि स्वयं अपने आपको भी।

किन्तु यह अस्वीकृति फैशन नहीं, उसकी रचना-प्रक्रिया की अनिवार्यता है। कला-मूल्यों की निजी तलाश सच्ची आधुनिकता की पहली और अनिवार्य शर्त है। ऐसी शर्त उसे जव सर्वथा नये जीवन-वोध, नयी चुनौती तथा जीवन के किसी नये प्रश्न-चिह्न तथा अनुभव के सृजन की विवशता होगी। ऐसी विवशता और संकल्प के सामने ही हर प्रतिष्ठित-स्थापित उसे शून्य और झूठा लगने लगता है। दरअसल प्रतिष्ठित कभी विचार नहीं कर

सकता, तभी तो है वह। वह केवल निर्णय देता है, अपनी जड़-संज्ञाशून्य दुनिया में स्थिर; तथा अपनी इसी दुनिया में हर नये को अजगर की तरह खींच लेता है।

यही वह विन्दु है, स्थिति है, जहां भारतीय रंगमंच क्षेत्र में आधुनिकता का मार्ग अवरुद्ध है। प्रतिष्ठा का यह चक्रव्यूह पर्याप्त सुदृढ़ है, और इसके हर द्वार पर अनेक महारथी खड़े हैं—तथाकथित शास्त्रीय परम्परा के, लोक-परम्परा के, पश्चिम के, यथास्थिति के···

इस किलेवन्दी को तोड़ने, भेदने और अंततः ढहाने के लिये निश्चय ही वहुत साहस और संकल्प चाहिए :

- नाट्य-रचना का साहस
- उसे प्रस्तुत करने अथवा कर्म का साहस
- प्रतिष्ठित की छाया से लोगों को बाहर लाने का साहस
- और इन साहसों की सूली पर चढ़ने की कीमत चुकाने का साहस।

'कलंकी' में मैंने यही साहस किया है। स्थापित मुझसे प्रत्यक्ष और तीव्र ढंग से सामना कर सके, मैं इसके लिये उसे समुचित भावभूमि (युद्धभूमि) देता हूँ और उसे उसकी प्रतिक्रिया की दुनिया से विचार तथा अनुभव की दुनिया में आने का निमंत्रण देता हूँ।

'कलंकी' में आधुनिक संदर्भ को प्रकट करना था, तो यथार्थवादी नाटकों की तरह सीधे-सीधे वर्तमान परिवेश को ग्रहण किया जा सकता था।

अर्थात् मिथक क्यों ?

इस सम्बन्ध में मुख्य वात रचना-प्रक्रिया की जटिलता है; किन्तु इसके अतिरिक्त मुझे एक साथ अनेक आयामों को सामने लाना था। एक ओर मेरे समक्ष संक्रान्तिकालीन नवीं-दसवीं शताव्दी की लोकचेतना अपने चेतनमयपरक विम्बों में उभर रही थी, और उसके बीच से अब तक प्रवह-

मान कालखंड तथा अनेक ऐसे व्यक्तित्व अपनी विशिष्टताओं तथा सामान्य स्थितियों को समेटे कुकुरमुत्तों की तरह सिर उठा रहे थे, कि मुझे उन्हें नकारना अन्याय-सा लगने लगा। वे मानों मुझसे कहते थे कि क्या हम तुम्हें केवल मध्यकालीन लगते हैं? क्या हम आज भी तुम्हारे चारों ओर नहीं बिखरे हुए हैं? उनकी इस मुँहफट बात से मुझे एक अन्य चीज़ सहसा याद आयी। छिपकली कितनी गन्दी-वाहियात जीव है और इसे प्रकृति ने जंगल या झाड़ियों में रखने के बजाय मनुष्य के साथ क्यों बाँध दिया? कहीं इसलिये तो नहीं कि हमारे पवित्र और सुन्दर से उस अपवित्र और असुन्दर का समानान्तर रूप से हर वक्त, लगातार आमना-सामना होता रहे! श्मशान-शवपूजा क्या इसी तरह हममें नहीं समा गया है? इस तरह जब धीरे-धीरे मैं इस अंधेरे में और गहरे उतरता गया, तो लगा कि हमारा सारा इतिहास, धर्मभय, अंधविश्वास, मानव कर्मकांड सब हममें वर्तमान है।

यदि इतनी ही अनिवार्यता मेरे सामने रही होती, तो भी मैं मिथक की ओर न जाता। किन्तु एक बड़ी कठिनाई उस समय उपस्थित हुई, जब मुझे लगा कि हमारा मार्ग संभवतः इसीलिये अवरुद्ध है कि यथार्थ की सच्चाई से सामना करने में हम न जाने कब से कतराते चले आये हैं। संयोग आ भी जाते हैं, तब भी हम उससे भाग निकलते हैं। और यदि वह निर्लज्ज यथार्थ मुँह फाड़कर हमारे मार्ग पर ही आ खड़ा हो तो हम अन्य उपायों के अभाव में अपनी आँखें ही बंद कर लेते हैं और इसे कर्मकांड से सुसज्जित कर पूरा एक शास्त्र ही बना डालते हैं। इस प्रकार की अन्य अनेक कठिनाइयाँ एक जुट होती चली गयीं और मुझे लगा कि यदि इन सबको सीधे-सीधे सामने लाया जाय तो मूल प्रश्न अपना केन्द्रीय संदर्भ ही नहीं छोड़ देगा, वरन उनका सामान्य संदर्भ भी बिखर जायगा।

विशेषकर नाटक में जब कोई मिथक आ जाता है तो मिथक की शक्ति इतनी बढ़ती है कि उससे सहज ही इतिहास, वर्तमान तथा भविष्य जैसे प्रकाशित हो उठता है। मिथक पुराबिम्ब बनकर त्रिआयामीय हो

उठता है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष, दृश्यगत जीवन में से अपना रूप पाता है। और जो अभिव्यक्ति जितनी संकुल तथा गहन होती है, उसके रचनाकार को उसके सार्थक रूपायन का प्रश्न समानान्तर चलने के कारण अन्योन्याश्रित रूप में ही उपस्थित होता है। यह प्रश्न मेरे समक्ष जब आया तो बहुत समय तक मन में कलंकी का रंगमंच अनेक रूपों में स्वांग भरता हुआ घूमता रहा और इसके लिये प्रत्येक स्थापित रंगरूप कहीं न कहीं कच्चा लगता। और मैं 'कलंकी' को पकड़ने तथा प्रकट करने में खूब भटका फिरा और उतना ही असंतुष्ट होता रहा।

'कलंकी' ने अपने प्रस्तुत रंगमंच की जैसे स्वयं रचना की है। इसने अपने इस स्वरूप को स्वयं ढूँढा है। यह स्वरूप ऐसा है, जो अपने प्रति भी प्रश्न-चिह्न लगाता है और दूसरों को विचलित, नाराज़ तथा हतप्रभ करता है। इसके नाट्य-विधान में साहित्य और रंगमंच दोनों की प्रणालियाँ एक नये स्वरूप में एकीकृत हैं। वह भी प्राचीन और नयी प्रणालियाँ। ज़ाहिर है, ऐसा अजब प्रयोग दर्शक और पाठक को प्रत्यक्षतः आघात पहुँचाता है। इसलिए और भी ज़्यादा कि यह मनुष्य के आंतरिक यथार्थ को इतने आदिम ढंग से उसके सामने उजागर करता है। दृश्य बनाकर अभिनीत करता है। जबकि मनुष्य का कौतूहल अब भी बाहरी यथार्थ, तर्कमूलक जीवन-दृश्यों पर ही टिका है।

जैसे जिसका जीवन, वैसे ही उसका रंगरूप, इस नाटक के व्यक्तित्व की यही सच्चाई इसका निजत्व है; इसके लिये इसे वर्तमान से चाहे जितना दंड मिले, थोड़ा है।

स्थापित चाहता है कि रचनाकार अपने अनुभव को सीमित दायरे में ही रखकर देखे। अर्थात् कमरों की चहारदीवारी के भीतर ही। या ज्यादा से ज्यादा ड्राइंगरूम में या 'प्रकोष्ठ' में। इस दायरे में भी वह चाहता है पारिवारिक कलह का नाटक या रोमांटिक मिलन और बिछुड़न का स्वांग। पर इसके परे जीवन की जो नियामक शक्तियाँ हैं— जीवन-स्रोत हैं, जो वैयक्तिक त्रासदियाँ हैं, उन्हें देखने और प्रकट करने का जो कलात्मक

सामर्थ्य है, वह प्रारम्भ कहाँ है ?

ठीक इसी के समानान्तर यथास्थितिवादी चाहता है कि अपने जीवनानुभव को बृहत्तर और गहन प्रसंग तथा अर्थ मत दो। उसे संस्कृति से मत जोड़ो। उसे अबाध से मत मिलाओ।

साहित्य समाज का दर्पण है, इसे यहीं तक रखो। साहित्य समाज का चिराग़ है, जो सच्चाई का सहसा रहस्योद्‌घाटन करता है; यथास्थितिवादी यथार्थ का यह रहस्योद्‌घाटन कभी नहीं चाहता।

अब तक का भारतीय इतिहास बताता है, हर युग में लोग अपने-अपने ढंग से किसी-न-किसी कलंकी की प्रतीक्षा करते रहे हैं। हर शासक, नियन्ता और अधिपति को अपने अस्तित्व के लिए किसी ऐसे ही मिथक का सहारा लेना पड़ा है। बल्कि इतना ही नहीं, उसकी स्थिति अक्षुण्ण रहे, इसके लिए आवश्यक होगा, कि वह लोगों को उसी बहाने प्रश्नहीन कर दे। सोचना, विचारना, शंका करना, यहाँ तक कि अनुभव करना, वह व्यक्तिगत विषय न रहने दे। वह यथार्थ से लोगों को अयथार्थ की ओर मोड़ दे। वह प्रत्यक्ष से लोगों को अप्रत्यक्ष की ओर हाँक दे तथा उनकी गणना कराता रहे। मध्ययुग में जो तंत्रसाधना के नाम पर शवसाधना थी, वही आज प्रजातन्त्र के नाम पर मतगणना नहीं है क्या ? शवसाधना कब पूरी मानी जाती है ? जब औंधे पड़े हुए शव का मुख, उसकी पीठ पर लदे हुए साधक की ओर घूम जाएगा, और जब वह जीवित मनुष्य की भाँति उससे बातें करेगा ! क्या यह आज के राजनीतिक परिवेश में पड़े हुए मनुष्य के लिए सच नहीं है ?

कलंकी का सारा वातावरण जैसे किसी धार्मिक कर्मकांड जैसा है और इसका कथासूत्र है लोकगाथा जैसा। और इसका सुरताल-नाद-स्वर आदिवासियों के संगीत-सा।

ऐसा क्यों ?

मनुष्य की यात्रा ही कुछ इसी तरह हुई है। इसी पथ से वह चला है। और वह सारा पथ उसकी गति में घुला-मिला है। अकसर ऐसा लगता है,

कि हमारी चेतना में बोये हुए न जाने कितने मंत्र, नाद, स्वर हमारा पीछा कर रहे हैं और हम भयभीत आगे भाग रहे हैं। धर्मभय, मृत्युभय, पापभय और अन्त में जीवनभय— यह सब क्या है? क्या यह वह भूमि नहीं है, जहाँ भूत-प्रेत जन्म पाते हैं, जहाँ निरंकुश राजा और शासक पैदा होते हैं तथा दूसरी ओर जहाँ कलंकी की अनिवार्य कामना उत्पन्न होती है। इस नाटक में तंत्र-साधना और विश्वास के अनेक शब्द, बल्कि अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर प्रकट हुई है। मूलतः इसका प्रयोजन, अवधूत और तांत्रिक के चरित्र को एक सामान्य आधार देने से रहा है। पर सर्वत्र हेरुप और तारा ने, उसे सर्वथा नये अर्थ में ग्रहण कर अपने चरित्र के अनुसार यथार्थ के रूप में देखा है और उसे नये परिदृश्य में लिया है। तंत्र शब्दावली का प्रयोग अवधूत-तांत्रिक, यथार्थ से पलायन कराने के ही लिए करते हैं, प्रसंग को अप्रासंगिक, प्रत्यक्ष को रहस्यमय बनाने के लिए। हर राजतंत्र ऐसा 'तंत्र' ढूँढता है और उसी जाल में वह फाँसता है।

स्पष्ट है, जो अभिव्यक्ति जितनी ही संकुल और गहन होगी, उसका नाट्यस्वरूप उतना ही प्रयोगशील तथा अनोखा होगा। यह स्वभावतः प्रतिष्ठित रंगमंच के स्थापित मूल्यों को तोड़ता है और नये संदर्भों में उनकी पुनर्रचना करता है। बहुत हद तक इसका जन्म विद्रोह और अस्वीकार के भीतर से होता है। वस्तुतः इसी विद्रोह, इसी अस्वीकार से किसी भी भाषा और काल में किसी युगान्तरकारी नाट्य और रंग का प्रारम्भ होता है—ऐसा प्रारम्भ जो अभिव्यक्ति की मूल विधा होने का सामर्थ्य देता है, जिसमें उस काल, क्षण की केन्द्रीय समवेदना सहज ही अभिव्यक्ति पाती है।

पश्चिम के सुनियोजित यथार्थवादी रंगमंच ने गत तीन दशकों से जिस भयानक ढंग से भारतीय रंगमंच को बाँध रखा है, उसे आमूल ढंग से तोड़ने का यह निश्चित प्रारम्भ है। 'कलंकी' नाटक मूलतः एक काव्य-बिम्ब के समीप है। इसका आग्रह न कहानी बताने में है, न किसी बौद्धिक प्रश्न या भावात्मक समस्या को स्पष्ट करने में है। अतएव इसकी संरचना

में न सुनियोजित नाट्य की तरह कथा की वह इतिवृत्तात्मकता है, न यथार्थवादी; समस्याप्रधान नाटक की तरह इसके संवाद न वादविवादी ही ढंग के हैं, न तर्कमूलक प्रकार के। इसका मूल प्राण है कलंकी का काव्य-विम्ब। रंगधर्म के भीतर से इसी काव्यविम्ब को संप्रेषित करना इस रचना का एकान्त संगीत है। शायद तभी इसका शिल्प काव्य के समीप ज़्यादा है। जो नाटक, कथा के स्तर से इतिवृत्तात्मक है, संवाद के स्तर से तर्कमूलक है, वह स्वभावत: एक निश्चित ढर्रे से चलकर अपने सुनियोजित लक्ष्य (चरम सीमा) पर जा पहुँचता है। किन्तु 'कलंकी' नाटक ठीक इसके विपरीत, सर्वथा एक नयी कलाभूमि पर प्राणवान है। इसमें कुछ भी निश्चित या सुनियोजित नहीं है। ठीक कविता की ही तरह इसके अन्तर्तम में एक केन्द्रीय भाव है, उसी की अभिव्यक्ति ही इसका अस्तित्व है (लक्ष्य नहीं)। वही केन्द्रीय भाव इसके बाहर-भीतर, अर्थात् रंगशिल्प और सम्प्रेषण दोनों में है। इसके परिवेश में, भाषा में, संगीत में और इसके पूरे अस्तित्व में। तभी इसकी स्थिति में एक स्थिरता है। जहाँ से नाटक शुरू होता है, और जहाँ समाप्त होता है, नगर के उस जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। कुछ ऐसी चमत्कारी घटना नहीं घटती, जहाँ से जीवन का स्वरूप ही वदल जाने को है। नगर के लोग दौड़ते हुए घोड़े की आवाज़ सुनते हैं, दौड़ते हैं और अन्त में मंच पर स्थिर हो जाते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि 'कलंकी' में नाटक की गति नहीं है। यथार्थ जीवन की ही तरह मात्र इसकी परिस्थितियाँ स्थिर हैं, किन्तु इन परिस्थितियों में जो नाट्यविम्ब वन्दी हैं, वह जिस गति से, अवाध रूप से यहाँ उद्घाटित है, उसे समझने और देखने के लिए वड़ी गहरी काव्यदृष्टि चाहिए। कलंकी में कथा का कौतूहल नहीं है, 'दृश्यत्व' की जिज्ञासा है। हम यह क्या देख रहे हैं, क्यों देख रहे हैं, यह है इसका रंगधर्म! इसके वाद नाटक में क्या होगा, यह इसका रंचमात्र भी प्रयोजन नहीं। वल्कि यह इसी वोध को तोड़ता ही है।

कलंकी की नाट्यरचना में मैंने संस्कृत और लोक-रंगमंच की कुछ

ऐसी नाट्य-धर्मिताओं का व्यवहार किया है जिनसे देश, काल और कार्य की मूलभूत सीमाओं की समस्या हल होती है। ऐसा व्यवहार, जो कलंकी की कथावस्तु, प्रकृति तथा सम्प्रेषण के मूल्यों के साथ उदित हुआ है। कलंकी रंगमंच की अपनी नयी धर्मिताएं हैं, अपने निजी प्रयोग हैं; यह ऐसा रूपक है, प्रतीक है, रंग शब्द है, जो रंगमंच की उन सब सीमाओं तथा वर्जनाओं को सीधे काटता है, जो न जाने कब से नाट्यलेखन को आधुनिक बनाने में बाधक थे।

इसका आवेदन और निवेदन अविलम्ब, प्रत्यक्ष और वस्तुपरक है।

कलंकी नाटक की रचना प्रकृति में जीवन-सन्दर्भों के रहस्योद्घाटन की जागरूक चेतना है। उद्घाटन का उद्देश्य है--देखने, समझने और सोचने की पुनर्शक्ति देना। इसके लिए गायन-वादन, दर्शन, इतिहास, पुराण, गाथा और कर्मकांड —इन सबको एक विन्दु पर संगुफित किया गया है। और इन सबसे एक वस्तु या पदार्थ निर्मित करने का प्रयत्न किया गया है। क्योंकि दृष्टि किसी वस्तु की अपेक्षा करती है। कलंकी में वही वस्तु, वही यथार्थ अयथार्थ ढंग से निर्मित है। यह ढंग जितना ही अयथार्थ है, इसके सूत्र उतने ही प्रत्यक्ष-स्थूल तथा घटना-कार्य प्रधान हैं। कथा-गायन की भाँति यह उतना ही अभिन्न, समवेद्य, अभिन्न है। और कहीं-कहीं उस प्रत्यक्ष को दर्शकों के लिए रेखांकित करने के लिए इसे उपदेशात्मक तक होना पड़ा है। सार को ग्रहण करने के लिए इसमें अतिरिक्त त्वरा और हठात् मौन, दोनों को समान रूप से प्रत्येक अनुक्रमों में बार-बार इस्तेमाल किया गया है। जैसे वाद्ययंत्रों के बीच कोई धर्मगायन धीरे-धीरे तारसप्तक पर पहुँचकर सहसा वहीं टूट जाता हो और उसका सम बहुत दूर छिपकली की कटी हुई पूंछ की तरह काँपता छुट गया हो।

यह सब कुछ उसी रहस्योद्घाटन के धर्म से हुआ है।

भारतीय रंगमंच के प्रतिष्ठित मूल्यों का अब तक का इतिहास हमें यहीं तक बाँधे था कि कथा का, चरित्र का, कर्म का उद्घाटन कैसे होता है, और हमारा सारा रंगमंचीय कार्यकलाप इसी सीमित बिन्दु से अनुशासित

होता रहा है। इसे मैं 'सीमित' आज की समसामयिक स्थिति के प्रसंग से कह रहा हूँ। सीमित ही नहीं, बल्कि उसे मैं अपर्याप्त मानता हूँ। उद्घाटन का धर्म मध्ययुगीन या सामन्तकालीन जीवन की सापेक्षता में था। पर आधुनिक जीवन और इसका यथार्थ उसकी तुलना में इतना संश्लिष्ट, गहन तथा परिवेशधर्मा हो गया है कि अब इसके लिए उद्घाटन सर्वथा अपर्याप्त है। उद्घाटन का क्षेत्र समाजशास्त्रियों, जीवविज्ञान-अन्वेषकों तथा मानसिक चिकित्सकों का हो गया है और यह कार्य वे लोग बड़ी सफलता से कर रहे हैं।

कला के क्षेत्र में जीवन और उसके यथाथ का अब उद्घाटन नहीं, बल्कि रहस्योद्घाटन कैसे हो ?

आधुनिक जीवन के चातुर्दिक दबाव का एक जो अत्यन्त गम्भीर आघात व्यक्ति के ऊपर हुआ है, वह है उसके यथार्थ से उसके सम्बन्ध का टूट जाना। वह धीरे-धीरे टूटकर एक ऐसी अपहुँच जगह जा बैठा है कि कृतिकार द्वारा उस तक पहुँचना कठिन हो गया है। कठिन इसलिए और भी कि कृतिकार स्वयं उस टूटने का बहुत बड़ा भागीदार है। उस तक पहुँचने के लिए उसकी सीढ़ी स्वयं टूटी हुई है।

उस तक पहुँचने के लिए कुछ चीज़ चाहिए—कोई ठोस चीज़—विषय और दृष्टि दोनों स्तरों पर। यह चीज़ वस्तुतः वही दर्शन होगा—दर्शन, चाहे वह राजनीति के ज्ञान से उद्भूत हो, चाहे सम्पूर्ण मानवधर्म से, उसके सम्पूर्ण क्रियाकलाप और व्यवहारों से। उसके भय और विश्वासों से।

लेकिन ठोस, प्रत्यक्ष चीज़ से ही तो वर्तमान मनुष्य भागा हुआ है। उसे प्रत्यक्ष से ही तो भय है। तभी तो वह ठोस से अपहुँच स्थान पर जा बैठा है।

'कलंकी' के नये रंगमंच में तभी उस पहुँचने के साधन को, सेतु को, सीढ़ी को रूपकात्मक बनाया गया है। और इसका सम्प्रेषण प्रतीक, धर्म-कथा, जातक चित्र, बिम्ब आदि से किया गया है। अपने यथार्थ से भागा

हुआ व्यक्ति भला अपना निजी यथार्थ क्यों देखेगा ? उसे फैन्टेसी, धर्म-कथा, लोककथा आदि के ही वहाने फिर पाया जा सकता है।

तभी कलंकी का परिवेश तंत्रकाल का होकर भी तंत्रकाल का नहीं है। इसका सम्बन्ध अवाध काल से है। अकुलक्षेम एक सामंत है, शासक है। हूणों की सेना किसी भी विजेता, आक्रमणकारी की सैन्यशक्ति हो सकती है। विक्रमविहार प्रतीक है उस शिक्षण-पद्धति का, जहाँ जागरूक विद्यार्थी को केवल प्रश्नहीन वनाया जाता है। यह प्रशासन का एक ऐसा अस्त्र है जो विद्या (तंत्र) के नाम पर व्यक्ति की आन्तरिक हत्या करता है। और उसे अपने अनुरूप जड़ वनाकर गुलामी के लिए विवश करता है। इस सवके विरुद्ध जो मात्र प्रश्न करता है, उसे यह तंत्र क्षमा नहीं करता और उसे प्राणदण्ड देता है। और तरह-तरह की कहानियों से यह तंत्र पूरे वातावरण को अभिभूत रखता है।

'कलंकी' में चरित्र यथार्थ के विभिन्न स्तरों पर रखे गए हैं—इसका रहस्य वही है, यथार्थ से टूटकर दूर-नज़दीक इनका स्थित होना। जो यथार्थ के जितने ही समीप है वह उतना ही आघात झेल रहा है। जिसमें जितना ही मनुष्य है, उसका उतना ही अमानवीकरण किया जा रहा है।

पर तंत्र, स्थापित कितना भयभीत है ! कितना पराजित होता जा रहा है ! वह कितनी जातक कथाएँ अभिनीत कर, मनुष्य को यह अनुभूत कराये कि वह पिछले जन्म में क्या था, और उसमें पापभय पैदा करने की कोशिश करे, पर यह इतिहास-सत्य नहीं भुलाया जा सकता कि जेतवन में कभी सब मृग समान थे और सभी समान रूप से वोधिसत्व के अधिकारी थे।

—लक्ष्मीनारायण लाल

'कलंकी' नाटक के अभिनय-प्रदर्शन, अनुवाद तथा फ़िल्मीकरण आदि के लिए लेखक की लिखित पूर्व-अनुमति आवश्यक है।

'कलंकी' का पहला
प्रस्तुतीकरण 'संवाद' द्वारा
आई० फेक्स थिएटर, नई दिल्ली में
शनिवार-रविवार,
११-१२ मई, १९६८ को हुआ।

भूमिकाएँ (प्रवेशानुसार) :

हेरुप : दयाप्रकाश सिन्हा
पहला कृषक : योगेश वशिष्ठ
दूसरा कृषक : राजेश रायज़ादा
तीसरा कृषक : तीरथ कैरों
तारा : संजम चहल
पहली स्त्री : उषारानी सोंधी
दूसरी स्त्री : संतोष लता
अवधूत : राजेन्द्र वर्मा
वृद्ध : कैलाश पांडे
तांत्रिक : गोपाल माथुर

० ०

निर्देशन : लक्ष्मीनारायण लाल

# पात्र

हेरुप
तारा
अवधूत
तांत्रिक
एक वृद्ध
दो स्त्रियाँ
तीन कृषक

[आकाशपटी पर नीले प्रकाश के उभरने के साथ ही साथ कलंका का संगीत फैलता है। जहाँ यह टूटकर विखरता है, वहीं से वायुमंडल में पुरुष और स्त्री स्वरों में क्रमशः ये स्वर उठते हैं।]

**कई पुरुष स्वर :** हे हउ !

**कई स्त्री स्वर :** ह्रि क्रि !

[वायीं ओर से भागा हुआ हेरुप आता है। ये प्राणवेधी स्वर जैसे उसका पीछा कर रहे हैं। वह भागता है, गिर पड़ता है। फिर भागता है, गिरता है। इसी के अनुरूप ही वे स्वर भी दौड़ते-गिरते हैं। सारी शक्ति से वह भागता है, पर वे आक्रामक स्वर जैसे उसे पकड़ लेना चाहते हैं।]

**दोनों स्वर :** (परस्पर दौड़ते-से)

हे हउ···ह्रि क्रि
हे हउ···ह्रि क्रि
हे हउ···ह्रि क्रि

[हेरुप दौड़ता-गिरता भागता है, और चरमबिन्दु पर पहुँचकर वेसुध गिर पड़ता है। पीछा करता हुआ भयावह स्वर क्रुद्ध आँधी की तरह पूरे वातावरण को हिलाकर दूर चला जाता है। तभी बाँसुरी का अकेला संगीत फूटता है। गिरि-घाटियों से जैसे माथा टकराकर माँ के आशीष की तरह वह बाँसुरीनाद हेरुप को छूता है। उसमें

सुधि जगती है। वह भयभीत है। वह गिरा हुआ, माथा उठाये शून्य में कुछ देख रहा है। कुछ ही क्षणों बाद तीन कृषक आते हैं। चलकर बायीं ओर एक बिन्दु पर खड़े होते हुए ]

**तीनों कृषक** : हम कृषक हैं। हमारी बाँसुरी के संगीत पर अब कोई गीत नहीं गाता, बाँसुरी बजती है, पर गीत नहीं फूटता।

**पहला कृषक** : बस, कुछ वर्षों बाद, कहीं कुछ हो जाता है। और कुछ नहीं···

**तीनों कृषक** : और कुछ नहीं, और कुछ नहीं !

**पहला कृषक** : देखो, दूर वह गहरी प्रशान्त नदी, देखो, उसकी धार में उगा हुआ गिरि-शिखर। हम दिनभर उस पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं पर संध्या होते ही हमें लौट आना पड़ता है।

**दूसरा कृषक** : अगले दिन फिर हम चढ़ने जाते हैं। नये सिरे से वही यात्रा फिर करते हैं और थककर लौट आते हैं।

**तीनों कृषक** : (चलते हुए)
ऐसा हम नित्य करते हैं। ऐसा करने को हम विवश हैं।

**पहला कृषक** : (रुककर)
हमें स्वप्न हुआ है—गिरि-शिखर पर

देवदारु का नन्हा-सा वृक्ष है। हमारे पुरपति अकुलक्षेम ने अंतिम साँस लेते हुए उस देव-पौधे को लगाया है।

**दूसरा कृषक** : वह पुण्यवृक्ष हमें फिर जीवनदेगा।

**पहला कृषक** : वह महास्मृति चिह्न है।

**तीसरा कृषक** : जहाँ अकेला अकुलक्षेम लड़ा था।

**तीनों कृषक** : (चलते हुए)
यह पथ लम्बा नहीं, केवल दुर्गम है···

**हेरुप** : हे! कौन हो तुम?

**तीनों कृषक** : (भयभीत, परस्पर)
हमारे नगर में यह प्रश्नकर्त्ता कहाँ से आ गया!

**पहला कृषक** : यह कोई बाहर का आदमी है!

**हेरुप** : नहीं, नहीं! मेरे पास आओ। मुझे बचाओ, कोई मेरा पीछा कर रहाहै!
[तीनों कृषक उसके पास आ गए हैं।]
कोई गीत गाओ जो मुझे बेसुध कर दे!

[कृषक मूर्तिवत खड़े हैं।]

**हेरुप** : यह नगर इस तरह शान्त क्यों सोया है? क्या हुआ इस नगर को?
[एक गहरा मौन खिंच जाता है।]

**पहला कृषक** : बहुत दिन पहले इस नदी में बाढ़ आयी थी। इसकी लहरों पर हूण दौड़े थे। अकुलक्षेम ने उनका पीछा किया

था ।

**दूसरा कृषक** : हूणों ने हमारी नावों में आग लगा दी थी । तब पहली बार, वह पूरे नगर से बोला था : 'टूट पड़ो इन बर्बर लुटेरों पर !'

**तीसरा कृषक** : पर कोई आगे नहीं बढ़ा और कोई नहीं लड़ा ।

**पहला कृषक** : अकुलक्षेम अकेला घिर गया । गिरि-घाटी में बाणों से विंधा हुआ वह रेंग-रेंगकर गिरि-शिखर पर चढ़ने लगा और जब यह नगर, इसकी कृषि, व्यवसाय, सतीत्व, धर्म सब कुछ उन बर्बरों से लूटा-फूंका जा रहा था, तब गिरि-शिखर से उसका यह अंतिम स्वर फूटा था—लड़ो···लड़ो······लड़ो···!

**हेरुप** : (विह्वल) लड़ो···लड़ो···लड़ो !

**पहला कृषक** : हे ! इसका स्वर कैसा है !

**दूसरा कृषक** : इसका मुख अकुलक्षेम से मिलता है !

**तीसरा कृषक** : खोलो आँख, हमें देखो !

[हेरुप भागता है । उसकी दोनों कलाइयों में टूटी हुई हथकड़ी दिखती है ।]

**तीनों कृषक** : (क्रमशः एक-एक कर)

डरो नहीं !

निर्भय हो ।

आश्वस्त हो !

[उसकी कलाइयों से हथकड़ी निकालते हैं ।]

**हेरुप** : (त्रस्त) मैं अकुलक्षेम का पुत्र···

**तीनों कृषक** : अकुलक्षेम का पुत्र !
हेरुप·· हेरुप · हेरुप !
[मानो उसके चारों ओर परिक्रमा करते हुए ]
हँसिबा-खेलिबा रहिबा रंग
काम-क्रोध न करिबा संग
हँसिबा-खेलिबा गाइबा गीत
दृढ़ करि राखि आपना चीत
हे हो चित्त, सुनावा गीत
हमरे घर आवा है मीत !

**हेरुप** : मैं अकुलक्षेम का पुत्र हूँ, यह सच्चाई तुममें क्रोध नहीं पैदा करती !

**पहला कृषक** : अकुलक्षेम अन्त में हमारे लिए लड़ा था ।

**हेरुप** : नहीं, केवल अपने लिए···

**दूसरा कृषक** : हमने सारा अधिकार उसे सौंप दिया था !

**हेरुप** : इसके लिये तुममें कभी द्वन्द्व-संघर्ष नहीं हुआ ?

**तीसरा कृषक** : द्वन्द्व-संघर्ष, यह शब्द तू कहाँ से सीख आया !

**दूसरा कृषक** : पुरपति ने तुझे इस नगर के लिये तंत्र-विद्या का रहस्यज्ञान लाने भेजा था ।

**पहला कृषक** : ठीक चौदह वर्ष बाद, तू यही पढ़-कर लौटा है !

**हेरुप** : ओह ! उसने तुम्हें कुछ भी नहीं जानने दिया। अपने इन्द्रजाल में फँसाकर जो नहीं है, वह प्रकट किया, जो अप्रासंगिक है, उसे प्रसंग बनाकर तुम्हारे कंठ में बाँध दिया।

[सन्नाटा खिच जाता है।]

**पहला कृषक** : अच्छा, तुम कोई ऐसी कथा जानते हो, जो हम नहीं जानते !

**दूसरा कृषक** : सुनाओ कोई ऐसी कथा !

**तीसरा कृषक** : सच, बहुत दिन हुए, हमने कोई कथा नहीं सुनी !

[नीचे के दृश्य में हेरुप धीरे-धीरे उन कृषकों के हृदय में जैसे समा जाना चाहता है।]

**हेरुप** : मुझे निर्भय करो। जो मेरा पीछा कर रहा है, वह यहाँ नहीं आये। यदि वह यहाँ आ भी जाये, तो तुम सब मुझे अपने अंक में छिपा लोगे !

**तीनों कृषक** : हाँ, हम सब छिपा लेंगे !

**हेरुप** : यह नहीं कहोगे कि मैं कहीं बाहर का हूँ !

**तीनों कृषक** : हाँ-हाँ, हम नहीं कहेंगे !

**हेरुप** : प्रतिज्ञा करो, किसी भी मूल्य पर तुम

मुझे इस नगर से बाहर नहीं जाने दोगे !

**तीनों कृषक** : हाँ, हम प्रतिज्ञा करते हैं !

[विराम]

**हेरुप** : (जैसे विलकुल अकेला होता जा रहा है।)

तब मैं कुल पाँच वर्ष का था। बिलकुल ही नहीं जानता था कि क्या होता है प्रश्न, और क्या होता है उसका दंड। बस, हर क्षण जैसे आश्चर्य से घिरा रहता था।

[कृषक इस तरह बैठते हैं, जैसे कोई कथा सुन रहे हों ]

यह नगर क्या है, क्यों है, मेरा पितृ ही अकेला सामंत क्यों है--प्रश्नों की इस शरशय्या पर लहूलुहान मैं हर क्षण बैठा रहता था। पितृ मुझे अपने हाथों से दंड देते, और हर तरह से मुझे डराया जाता। माँ मेरे पक्ष में थी, और मेरी रक्षा के संघर्ष में उसे मर जाना पड़ा। (विराम) मैं संभवत: ग्यारह वर्ष का हुआ। नगर को रौंदती हुई हूणों की छोटी-सी सेना मेरे सामने से इधर गुजरी थी। मैं छोटा-सा धनुष और तीर लेकर उन

हिंस्रों की ओर दौड़ा था···उसी क्षण, किसी ने मुझे पीछे से दवोच लिया। मेरी आँखों पर काली पट्टी बाँध दी गयी। मैं एक बंद रथ में डाल दिया गया। रथ चलने लगा। सहसा पितृ का स्वर मेरे कानों में टकराया, 'सुनो, सुनो नगरवासियो! मैंने अपने पुत्र हेरुप को विक्रम-विहार में भेजा है—तंत्रविद्या का रहस्य जानने'।

**पहला कृषक :** (उठता हुआ)
ओह···हाँ, अब याद आया, तब किसी ने पूछा था, 'क्या होगा विद्या का रहस्य!'—सामंतने उसकी ओर घूर-कर देखा था, फिर पता नहीं, वह प्रश्न-कर्त्ता तब से कहाँ गायब हो गया!

**दोनों कृषक :** (खड़े होते हुए)
हेइ···जेइ कथा
जेइ कथा···

**पहला कृषक :** एक कथा हमारे पास भी है!

**दूसरा कृषक :** चंडीमंडप में एक अद्भुत अवधूत आया है!

**तीसरा कृषक :** चलो, हम तुम्हें वहीं ले चलें।

[कृषकों के संग हेरुप गीत गाते हुए—यात्रा चलती है।]

एहो, कहाँ बसै सक्ती कहाँ बसै जीव
कहाँ वसै पवना कहाँ वसै जीव ?
एहो, अरघै बसै सक्ती उरघै बसै जीव
भितरी बसै पवना अंतरी बसै जीव
ए हो, कहाँ वसै मानुष कहाँ बसै लोग
कहाँ बसै मनुआ कहाँ बसै रोग ?
एहो, लोक बसै मानुष समाजु बसै लोग
ज्ञान बसै मनुआ अज्ञान बसै रोग !

[सहसा परिक्रमा रुक जाती है।]

**पहला कृषक** : यही है वह चंडीमंडप, इसीमें साधनारत है अवधूत !

**हेरुप** : कैसा अवधूत ?

**तीनों कृषक** : सावधान ! यहाँ प्रश्न महापाप है।

**दूसरा कृषक** : अवधूत महासिद्ध है। वह मानव-हित कलंकी अवतार की साधना कर रहा है।

**तीसरा कृषक** : हमें यही बताया गया है कि एक सहस्र शव साधना पूरी होते ही इस नगर में कलंकी अवतार होगा।

**पहला कृषक** : जैसे ही वह इस नगर में आयेगा, यह सारा देश धन-धान्य से भर जाएगा। यह रोग-अँधकार सब मिट जायगा।

**दूसरा कृषक** : वह महापराक्रमी श्वेत अश्व पर चढ़ा आयेगा।

**तीसरा कृषक** : हमें यही विश्वास दिया गया है, वह

इस धरती पर सतयुग लायेगा।

**पहला कृषक** : (सहसा)
शांत! वह देवी तारा आ रही है!

**दूसरा कृषक** : वह अवधूत की महासाधना में आ रही है।

[सब डरे हुए एक ओर हो जाते हैं। तारा दायीं ओर से आती है।]

**हेरुप** : तारू...तारू!

**पहला कृषक** : हाय, अभी अनर्थ हो जायगा!

**हेरुप** : (पास आ गया है) मैं तुम्हारे ही द्वारा इस नगर को प्राप्त कर सका।

**दूसरा कृषक** : ओह! यह उसे पहचानता है!

**हेरुप** : उस अंधगह्वर में तुम्हारे ही प्रकाश ने मुझे...

**तीसरा कृषक** : ये दोनों बचपन में एक संग खेले हैं।

**हेरुप** : मृत्यु के उस मुख में वह धवल पक्षी मेरी आँखों में उड़ता था...वही था मेरी संजीवनी...

**तीसरा कृषक** : पहचानो यह वही हेरुप है—अकुलक्षेम का पुत्र। याद करो, नदी के बालूतट पर जब तुम दोनों दौड़ते थे, गिरि-शिखर से एक धवल पक्षी उड़कर तब लहरों पर बैठ जाता था, और तुम्हें खेलते हुए अपलक निहारता था!

**पहला कृषक** : सावधान ! यह अब वह नहीं, तारा-देवी है !

**दूसरा कृषक** : यह आराधना में विघ्न डालने आया है। इसे कहो, यह यहाँ से चला जाए !

**तीसरा कृषक** : तूने प्रतिज्ञा की है।

**तारा** : मुझे जाने दो !

**हेरुप** : कहाँ ? क्यों ? किसलिए ?

**तारा** : मुझे जाना है !

**हेरुप** : तुम जहाँ जाना चाहती हो, मैं वहीं से भागकर आया हूँ। ऐसे सैकड़ों अवधूत जहाँ शव-साधनारत थे···

**तारा** : मुझे भी वहीं जाना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं। पराजित-अकालग्रस्त सारे नगर में जिस भाँति पंचमकार की पूजा चल रही है, उससे श्रेयस्कर है कि मैं इनके विश्वास के लिये ·· देखो, दूर खड़े वे लोग मुझे घूर रहे हैं। मैं वापस लौटी तो वे लोग मेरा शव···

**हेरुप** : आह ! मेरा दायाँ हाथ जल रहा है ! मेरे बाएँ अंग पर हिमपात हो रहा है !

**पहला कृषक** : तूने महासाधना में विघ्न डाला है !

**दूसरा कृषक** : तूने महाअपराध किया है। गिरि-

घाटियों, नदी-तल में जो वायु सोयी थी, वह आँधी बनकर उठ रही है…

**तीसरा कृषक :** भागो · भागो…!

**पहला कृषक :** आँधी में मक्खियों का गिरोह है… भागो…भागो !

[हेरुप दायीं ओर मूर्तिवत् स्थिर है। शेष सभी आँधी में मक्खियों से घिर जाने, छिपने-वचने का अभिनटन करते हैं। वायीं ओर से गाती हुई दो कृषक स्त्रियाँ शांति के लिये पूजा करने आती हैं।]

अरघ उरघ मुख लागौ कासु
सुन्न मंडल मा करहु प्रकासु
इहाँ सुरुज नाहीं, नाहिन चन्द
आदि निरंजन करहु अनन्द !

[गाती हुई चंडी-द्वार पर चढ़कर दया की भिक्षा माँगती हैं। आँधी और मक्खियों का प्रकोप शान्त हो जाता है।]

**तीनों कृषक :** यह अवधूत कहाँ से आया ?

**दोनों स्त्रियां :** सुन्न गगन से पंथ चलाया !

**तीनों कृषक :** एक से शंभू पंथ चलाया।

**दोनों स्त्रियाँ :** (ऊपर से नीचे उतरती हुई)
एक से भूत-प्रेत मन लाया।

**तीनों कृषक :** सर्वभूत संसार निवासी।

**दोनों स्त्रियाँ :** आपु हि खसम आपु सुखवासी।

**तीनों कृषक :** कहियत मोहिं भइल जुगचारी।

**दोनों स्त्रियाँ** : काके आगे कहौं पुकारी।

[अंत में सब मिलकर गोलाकार रूप में परिक्रमा करके बायीं ओर चले जाते हैं। हेरुप जैसे अकेला छुट गया है।]

**हेरुप** : (चंडी-मंडप के द्वार पर आँखें गड़ाकर) अमावस्या की आधी रात बीत गई। अवधूत, यदि तुझमें साहस है, तो प्रत्यक्ष मेरे सामने आ! ओ ढोंगी पाखंडी, अपनी अधूरी दुनिया से बाहर निकल। (सहसा) क्या कहा? तू बाहर नहीं निकलेगा!...तो सुन, मैं पूरे नगर से चिल्ला-चिल्लाकर कहूँगा—तू कायर है, क्लीव है... झूठ है!

[तेजी से अवधूत प्रकट होता है, ताड़ के गोल पंखे से अपना मुँह छिपाये है।]

**हेरुप** : तू किस तंत्रपीठ से आया है? तेरा कुलशील...

**अवधूत** : तू विक्रम विहार से भागकर आया है। तूने यह अक्षम्य अपराध किया है!

**हेरुप** : मूल अपराधी वह है, जिसने मुझे पशुवत बँधवाकर उस अंधगह्वर में डाला!

**अवधूत** : अंध और प्रकाश में अन्तर करने वाला तू कौन है! तुझे जब इतना

भी ज्ञान नहीं कि शरीर के छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य और पाँच आकाश क्या हैं ?

**हेरुप** : तूने ताड़ के पंखे से अपना मुँह क्यों छिपा रखा है ?

**अवधूत** : अज्ञानी, यह पवनचक्र है, चन्द्रमा है, आकाश है। तेरी कुशलता इसी में है कि तू यहाँ से भाग जा !

**हेरुप** : (स्वगत) इसकी वाणी का स्वर कैसा है!

**अवधूत** : तेरी अवस्था क्या है ?

**हेरुप** : (स्वगत) यह कैसा प्रश्न ?

**अवधूत** : ठीक बाइस वर्ष, पाँच दिन, सात घडी, दो पल…

**हेरुप** : मेरे व्यक्तिगत जीवन से इस तरह रुचि लेने वाला यह कौन है ?

**अवधूत** : तेरे पिता अकुलक्षेम से मेरी अन्तिम भेंट उस गिरि-शिखर पर हुई थी।

**हेरुप** : उन्होंने ही तुझे यहाँ भेजा…?

**अवधूत** : सुन…सुन…सुन मेरी बात…

**हेरुप** : पुरपति होकर जिसने इस नगर को व्यर्थता, निर्वीर्यता के पथ पर छोड़ा, अपनी सत्ता को यहाँ स्थापित रखनें के लिए जिसने अपरिवर्तनीयता के भ्रम फैलाये, उसी ने अपनी कायरता-पूर्ण मृत्यु के बाद अब तुझे यहाँ भेजा!

**अवधूत** : सुन···ओह···तुझमें अब भी वही आश्चर्यबोध हैं ! तेरा निवास अभी मूलाधार चक्र पर ही है। मेरे पास आ ! मैं दूंगा तुझे तंत्रविद्या का रहस्य। मैं जगाऊँगा तेरी सुषुप्त कुंडलिनी···तू कमलों की सेज को रौंदता हुआ, अनन्य सुन्दरियों का भोग करता हुआ···

**हेरुप** : मैंने यह सब करके देख लिया हैं !

**अवधूत** : तूने वह अनास्था से किया है।

**हेरुप** : पर किया है···भोगा है···

**अवधूत** : ओह, तुझ में भय है। तभी इतना दुखी है। अच्छा, तू वहीं निश्चल खड़ा रह। मैं तेरी आत्मा को निर्भय करूँगा।

**हेरुप** : वह निर्भय है···सावधान, मुझ पर अपनी मायावी शक्ति डालने का प्रयत्न मत करना।

**अवधूत** : तू बहुत थका है। आ, भीतर विश्राम कर !

**हेरुप** : बस, एक शर्त पर । मुझे एक बार तू अपना मुँह दिखा !

**अवधूत** : (आवेश में)
चला जा यहाँ से, भाग जा !

**हेरुप** : ठीक, बिलकुल ऐसी ही क्लीव प्रतिक्रिया मेरे उस कायर स्वार्थी पिता

में जगती थी ।

[अवधूत उसे घूर रहा है।]

**हेरुप** : माना हर शासक की अपनी एक निजी रहस्यशक्ति होती है, पर यहाँ तो जैसे सब कुछ रहस्यमय है। यह पराजय, यह अकाल···

**अवधूत** : इधर मेरी ओर देख !

**हेरुप** : संभवतः सारे रहस्य का यही था लक्ष्य। मनुष्य को पहले दिशाहीन करना, वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर निर्वीर्य कर उन्हें शव बना देना, फिर उनकी गणना करते रहना···

**अवधूत** : बस···बस···

**हेरुप** : उनके यथार्थ से उन्हें बैलों की तरह हाँककर अयथार्थ के जंगल में डाल देना और हर क्षण संशय को संकल्प में, विद्रोह को स्वीकार में बदलते जाना···

**अवधूत** : (सक्रोध)

तू नहीं जानता मेरी शक्ति ! तू जो कुछ मुझ से माँग मैं इसी क्षण तुझे दे सकता हूँ। (रुककर) चल, ध्यान कर ऐसे विशाल भवन का, जिसमें छः आँगन, सोलह कमरे, नौ

दरवाजे और पाँच खंड हैं, फिर भी यह केवल एक स्तम्भ पर टिका है।

**हेरुप :** मैंने जब भी ध्यान किया है, मेरे अन्तः क्षितिज पर केवल दो ही रूप उभरे हैं—मेरे पिता और यहाँ के लोग, एक ओर महानतर अधिकार, दूसरी ओर विद्रोह के अधिकार से स्वतः कटते जाना···यही वह एक स्तम्भ है, जिस पर यह विशाल भवन टिका है !

[थककर वहीं बैठ जाता है और लुढ़ककर सो जाता है।]

**अवधूत :** सो गया ! मैं अब इसकी आत्मा को इसके पिंड से अलग कर इसके शव से वार्तालाप करूँगा (पंखा हटाता है।) अब देख मेरा मुख ! पहचान मैं कौन हूँ···हाँ, मैं तेरा वही पिता हूँ। उस गिरि-शिखर से अब यहाँ भूत बनकर आया हूँ ! मुझे आशंका थी, तू कभी इस नगर में वापस आयेगा, और यहाँ मेरे विरुद्ध विद्रोह फैलायेगा। यह मेरे लिए असह्य था। (रुक जाता है जैसे कुछ सोचता है।) मैं मरकर भी तुझे सफल नहीं होने दूँगा ! (बैठकर उसके मुँह को निहारता है।) मैंने चाहा था, मेरे बाद तू ही मेरा उत्तराधिकारी हो···पुर-

पति···सामंत! पर इसके लिए आव-
श्यक था तू प्रश्नहीन निःशंक हो!
( ) पर पता नहीं तू किस
रक्त का था (जैसे हेरुप इस अपशब्द
पर विरोध करता है।) हाँ-हाँ, मुझमें
अब कोई शील-संकोच नहीं! अब
मुझे अपने ही ऊपर क्रोध आता है।
विक्रम-विहार में भेजने की जगह, मैंने
तेरी हत्या क्यों न करा डाली!
(विराम) विक्रम-विहार से तेरे सारे
समाचार गुप्तरूप से मेरे पास आते
थे। तेरे विद्रोहबोध के दमन के लिए,
तुझे वहाँ जितनी यातनाएँ दी गयीं,
सब मेरे ही निर्देश पर थीं। पर सब
कुछ असफल रहा। किन्तु याद रख,
मैं असफल नहीं हो सकता। गौरव-
गाथा के रूप में मेरा अमर अस्तित्व
यहाँ बना रहे, मैंने अपने जीवन के
अंतिम क्षणों में हूणों से युद्ध किया
और मरकर फिर यहाँ आ गया। मैं
यहीं से उपजा हूँ, मैं यहीं रहूँगा। तू
बाहर का है, तू यहाँ नहीं रह
सकता···देख मेरी असीम शक्ति···
तेरी आत्मा को अब मैं पिंड में
डालता हूँ!

[ऊपर जाकर, पंखे से फिर मुँह ढक लेता है।]

**हेरुप** : (उठता हुआ)
मैंने यह कैसा दुःस्वप्न देखा! एक ओर मेरे पिता, दूसरी ओर उनका भूत, वे दोनों मिलकर मुझे यहाँ से बाहर निकाल रहे हैं। (सहसा अवधूत को देखता है।) कौन है तू?···बाहर का तू है, तुझे यहाँ से जाना होगा! (चिल्लाता हुआ) नगर के लोगो! दौड़ो···घेर लो इसे!

[तीनों कृषक, दोनों स्त्रियाँ, एक वृद्ध और तारा सब दौड़े आते हैं।]

इससे पूछो यह कौन है? यह कहाँ से आया?··· तुम सब इस तरह चुप क्यों हो? तुम लोग कुछ बोलते क्यों नहीं!···देखो···उधर देखो···!

**पहला कृषक** : वह हमारा स्वामी है। वह हमारे लिए कलंकी अवतार की साधना कर रहा है।

**दूसरा कृषक** : वह हमारे लिए आश्चर्यजनक है! वह हमें प्रभावित करता है।

**तीसरा कृषक** : वह हमें कहीं बाँधता तो है, वह असंभव ही सही! ठीक उसी तरह जैसे अकुलक्षेम ने हमें बाँधा है, हमारा सामंत बन, और अंत में गिरि-शिखर

पर हमारे लिए कोई एक देववृक्ष लगाकर···

**वृद्ध** : हूँ, पहचानो, इसकी वाणी कुछ बदली है···

**तीसरा कृषक** : अब मैं अकेले ही अपनी यात्रा पर जाऊँगा···दर्शन करूँगा उस देव-वृक्ष का !

[जाने लगता है।]

**अवधूत** : तू अब शिखर यात्रा पर नहीं जा सकता। कलंकी के आने का समय पूरा हो चुका है।

[तेजी से अवधूत का प्रस्थान]

**हेरुप** : (सबकी प्रसन्नता को वेधता हुआ) उस कलंकी के लिए तुम स्वयं क्यों नहीं साधना करते कोई जगह खाली नहीं पड़ी रहती। उसे भरने कोई न कोई आ जायेगा और तुम्हें उसका मूल्य चुकाना होगा !

**तीसरा कृषक** : हम सदा मूल्य ही तो चुकाते रहे हैं। क्यों···?

**दोनों कृषक** : हम प्रश्न नहीं करते !

**पहली स्त्री** : हम तो बोलते ही नहीं !

**दूसरी स्त्री** : हम उसी की प्रतीक्षा में हैं।

**पहली स्त्री** : हमें जो-जो सहना पड़ता है, हम उसे शब्दों में कह नहीं सकते !

**दूसरी स्त्री :** हम उस कलंकी से कहेंगे : इस नगर ने अपनी सारी पराजय किस तरह हम पर प्रकट की है।

**तारा :** हेरुप···हेरुप !

**हेरुप :** तारू···!

**तारा :** हमारी तरह तुम भी उसी की प्रतीक्षा करो !

**वृद्ध :** तभी हम तुझे अपना पाएंगे, और तुझे अपना अनुभव करेंगे !

**तीसरा कृषक :** यह कहते हुए हमें लज्जा नहीं आती !

**पहला कृषक :** बस-बस, सोचने-विचारने का अब समय नहीं है।

**तीसरा कृषक :** हाँ, उसका स्वामी कोई और है।

**हेरुप :** तुम···तुम लोग···यह नगर···और मैं···

हे हो चित्त सुनावा गीत
तुम्हरे घर आवा है मीत !

[तीनों कृषक गा पड़ते हैं।]

हँसिवा खेलिबा रहिबा रंग
काम क्रोध न करिबा संग
हे हो चित्त सुनावा गीत
हमरे घर आवा है मीत

[सब धीरे-धीरे बैठकर हेरुप के सामने नतमस्तक होते हैं।]

**हेरुप :** (दर्द से आँखें बन्द किए हुए)

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 39869
Date 21·6·72

स्वीकार है मुझे ! मैं तुम्हारे बीच तुम्हारी ही तरह उसकी प्रतीक्षा करुँगा !

**अवधूत** : (तेजी से प्रवेश कर)
और···इन्हीं की तरह तब तक कोई प्रश्न नहीं करूँगा !

**हेरुप** : और···इन्हीं की तरह···तब तक कोई···प्रश्न···नहीं करूँगा !

**अवधूत** : मन में भी नहीं, चित्त में भी नहीं !

**हेरुप** : मन में भी नहीं···चित्त में भी नहीं !

**अवधूत** : और यदि किया तो उसी तरह तुझे कोई ले जायेगा !

**हेरुप** : और यदि किया, तो उसी तरह तुझे कोई ले जायेगा !

**वृद्ध** : देखो, अब यह हमारी ही तरह अवधूत की वात दुहराता है !

**हेरुप** : देखो, अब यह हमारी ही तरह अवधूत की बात दुहराता है !

[एक सन्नाटा खिच जाता है ।]

**अवधूत** : (सहसा)
दिवंगत, महाप्रतापी शूरवीर अकुल-क्षेम के इस वीर पुत्र हेरुप को अब इस नगर का पुरपति-सामंत अभि-षिक्त करो !

**सब लोग** : (प्रसन्न)

हमारे पुरपति सामंत !

**हेरुप** : तुम में से कोई पुरपति-सामंत बने, ताकि मैं वही हेरुप बना रहूँ !

[सब लोग भयभीत होकर देखने लगते हैं।]

**अवधूत** : देखो, यह तुम्हारा नहीं।

**पहला कृषक** : हम तुम्हें अपना राजा बनाना चाहते

**हेरुप** : क्यों ?

**पहला कृषक** : उसकी प्रतीक्षा के लिये !

**दूसरा कृषक** : लगता है, तुम हमारी बातें नहीं समझ पा रहे हो !

**तीसरा कृषक** : हमारी दुनिया अनोखी है। मारा विश्वास असंभव में है !

**हेरुप** : असंभव !

**तारा** : हम में जैसे ही कुछ महत और शुभ जन्म लेने लगता है, कोई सहसा उसे काट देता है !

**अवधूत** : बंद करो ये बातें !

[सब डर से चुप हो जाते हैं।]

**हेरुप** : डरो नहीं, बताओ···बोलो···!

**अवधूत** : यह इस नगर का नहीं; यह बाहर से यहाँ भ्रम फैलाने आया है। इसे खींच-कर बाहर करो···!

**हेरुप** : नहीं, नहीं···!

**अवधूत** : इसे अभिषिक्त करो !

[प्रकाश बुझता है। जब वापस आता है तो हम देखते हैं कि दोनों कृषक स्त्रियाँ तथा तारा चौक पूरने, तोरण-वन्दनवार लगाने, कलश, दीप आदि रखने-सजाने का अभिनटन करती हुई गा रही हैं।]

तुला धुणि धुणि अंसु रे अंसु
अंसु धुणि-धुणि निखर सेसु
तउसे हेरुण पाविअइ
तुला धुणि धुणि···

[सहसा वृद्ध आता है।]

**वृद्ध** : वह कहाँ है, महातांत्रिक ?

**तारा** : हमने भी अब तक नहीं देखा। वह नगर में आ गया है। वही तिलक करेगा।

**वृद्ध** : अहोभाग्य···अहोभाग्य !

[तीनों स्त्रियाँ बैठी हुई पुष्पहार गूँथ रही हैं।]

**वृद्ध** : हे हो भला, दो पुष्प मुझे भी दे दो···एक महातांत्रिक पर, दूसरा अपने नये पुरपति पर···(तारा पुष्प देती है।) पुरपति से एक निवेदन करूँगा, कलंकी जब यहाँ आये, तो उसके घोड़े का सेवक मैं बनूँगा। घोड़ा बहुत दूर चलकर आया

होगा; वह कितना थका होगा। उसके पैर दबाऊँगा, नहलाऊँगा, अपने इस अंगोछे से पोंछूंगा। हाँ-हाँ, पोंछूंगा, कुछ पूछूंगा नहीं, वृद्ध होकर भला मैं क्या इतना भी नहीं जानता! उसके संग भोजन करूँगा, उसके पास ही सोऊँगा और उससे कुछ बातें करूँगा!

**तारा** : उधर खड़े हो, इधर से वे लोग आएँगे!

[वृद्ध दायीं ओर जाता है।]

**वृद्ध** : इधर से और उत्तम है। यहाँ से महा-तांत्रिक के चरणों पर पुष्प चढ़ाऊँगा। उनसे वरदान माँगूंगा, कलंकी अवतार तक मैं जीवित रहूँ।

**तारा** : शान्त वे, लोग आ रहे हैं।

[तीनों कृषक हेरुप को नये वस्त्र और अलंकरण में सजाकर ले आते हैं। स्त्रियाँ स्वागत में उठ खड़ी हुई हैं। हेरुप आसन पर बैठाया जाता है और उसी क्षण तांत्रिक के प्रवेश से नीचे का दृश्य धीरे-धीरे पवित्र-समारोहमय के स्थान पर त्रस्त और भयावह होने को जैसे अभिशप्त होता है।]

**तांत्रिक** : (प्रवेश कर)

प्रं···अ···र···भ···ल[१]

[सब डर जाते हैं]

**तांत्रिक** : ऊँ···श्री··· रं···सौं··· रौं··· ह्रीं··· क्रीं ··[२]

[सभी लोग यही अक्षर दुहराते हैं। अक्षरनाद से सारा वातावरण खिंच गया है। हेरुप का मुख भय से पीला पड़ता जायेगा।]

**तांत्रिक** : इसे पहले पवित्र करना होगा !

**तीसरा कृषक** : यह पवित्र है। गिरि-शिखर का वह धवलपक्षी इससे बातें करता था। यह शुभ है, इसने हमारे लिये असह्य यातना भोगी है।

**तारा** : हम सब पवित्र हैं···इसे देखते ही यह मुझे अनुभव हुआ। देखो, हमारा सारा भय इसने अपने मुख पर ले लिया !

**पहली स्त्री** : हमें इधर शून्य में देखना चाहिए !

**तीसरा कृषक** : वही शून्य···

**तांत्रिक** : (सबको सहसा काटता हुआ) ऊँ···श्री···रं ! मंत्रपाठ करते हुए इस पर श्मशान की धूल डाली

---

१. बीजाक्षर मंत्र (शब्दब्रह्म) प्रं (प्रज्ञापारमिता) अ (अक्षोभ्य) र (रत्नसंभव) भ (अमिताभ) ल (अमोघसिद्धि)

२. सात मूल बीजाक्षर

जाय !

[सब ऊँ···श्री···रं···सौं···रौं··· ह्लीं···क्रीं कहते हुए हेरुप पर धूल डालने का अभिनय करते हैं ।]

**तांत्रिक** : अब चिता की गर्म राख डाली जाय !

[सब उसी तरह करते हैं ।]

**तांत्रिक** : अब इस पर सुरंग की धूल फेंकी जाय !

[सब करते हैं ]

**तांत्रिक** : युवती-कुमारी के हाथ से अब इसके बाएँ हाथ में तिल और दाएँ में जौ रखा जाय !

[तारा बढ़ती है ।]

**तांत्रिक** : ओह ! वह तू है ! इधर आ···पास आ···और पास !

[झपटकर तारा को कमर से पकड़ ऊपर उठा लेता है, जैसे उसे तोल रहा हो ।]

**तांत्रिक** : ठीक, गगनतुला पर तेरे कुमार यौवन का भार समुचित है !

[तारा को उसी तरह पकड़े हुए शून्य में घूरता है । ज़मीन पर छोड़ता है ।]

ओह ! तू भी अपवित्र है !

**दोनों स्त्रियां** : यह अपवित्र है ! इसने क्या किया है ?

**दोनों स्त्रियां** : (घेरकर)

तूने क्या किया है ?

**पहली स्त्री** : तेरी आँखों में अंजन है।

**दूसरी स्त्री** : नयनों में रंग है।

**पहली स्त्री** : पिंड में अनंग है।

**दूसरी स्त्री** : तू केवल शरीर है।

**पहली स्त्री** : तेरी त्रिवली में समीर है। तूने ध्वज तोड़ा है।

**दूसरी स्त्री** : तूने समबीज फोड़ा है।

**पहली स्त्री** : स्वयंचारा···

**दूसरी स्त्री** : व्यभिचारा···

**पहली स्त्री** : नंगी।

**दूसरी स्त्री** : कुरंगी !

[तारा इस चरम विन्दु पर आकर चीखकर धरती में अपना माथा गड़ा देती है।]

**तांत्रिक** : अब इसे मैं पवित्र करूँगा। चल, गौ आसन में स्थिर हो ! चल, शीघ्रता कर !

[तारा की पीठ पर बैठने का अभिनय]

**वृद्ध** : (सहसा)

ओ हो हो ! इसी तरह कलंकी अपने श्वेत अश्व पर बैठा हुआ आयेगा ! आयेगा···आयेगा !

**तांत्रिक** : तू अब पवित्र है। साधना-योग्य है। (उठाता है) चल, अब इसके हाथ में जौ और तिल रख !

[ तारा हेरुप के हाथ में रखती है।
हेरुप दाँत काटता है।]

**पहला कृषक** : इसने दाँत काटा है !

**तारा** : नहीं, नहीं।

**तांत्रिक** : वृद्ध मेखला बाँधेगा, स्त्रियाँ अंजन लगायेंगी।

**पहली स्त्री** : मैं अपवित्र हूँ।

**दूसरी स्त्री** : मैं अपवित्र हूँ।

**वृद्ध** : मैं तो उसके भी योग्य नहीं !

**तांत्रिक** : कर्मकांड पूरा करो !

**वृद्ध** : कहो कि हम पवित्र हैं, तभी हम ऐसा अनुभव करेंगे !

**दोनों स्त्रियां** : आत्मानुभव, अब हमारे वश की बात नहीं है।

**तांत्रिक** : यह सब उसी कलंकी से कहना…!

[दोनों स्त्रियाँ अंजन लगाने को होती हैं, पीछे वृद्ध मेखला बाँधने को होता है। तभी हेरुप तीनों पर चोट करता है और तीनों एक साथ चीखते हैं।]

**दोनों स्त्रियां** : यह पशु है।

**वृद्ध** : यह हिंस्र है !

**तांत्रिक** : (आवेश में)
इसके दोनों हाथ पकड़ लो…मुँह भींच लो !

[दोनों कृषक हेरुप के हाथ पकड़ते

हैं। तांत्रिक उसके मुँह में मंत्र फूँकता है।]

**तांत्रिक** : इसे अब छोड़ दो! (पकड़ कर उठाता है) उठो···उठो (उठाकर हाथ से प्रहार करता है। दूसरी वार भी इसी तरह। तीसरी वार वह नहीं उठ पाता। तब तांत्रिक उसे गले से पकड़ लेता है।)

**तांत्रिक** : (पकड़े हुए)
तूने अपने पिता पर शंका की। निराधार प्रश्न किये। तंत्र-विद्या की अवज्ञा की! वज्रसत्व (स्वभाव), वज्रज्ञान (रहस्य ज्ञान), वज्रयोग (योग), वज्रवर्ण (मंत्र), पंचमकार को तूने असत्य कहा। सत्य केवल मनुष्य है, यह अधर्म प्रचार करना चाहा। अंतिम सत्य मानव विवेक है, तूने यह विद्रोह फैलाना चाहा। (धीरे-धीरे उसे जमीन पर गिराकर उसकी छाती पर वैठकर) तूने मर्यादा तोड़ी है···तू विक्रमविहार से भागकर आया (केवल प्रकाश तांत्रिक के मुख पर है, शेष सव अँधकार में डूबे-से हैं। तांत्रिक का स्वर वदलता है) पर अब तू पवित्र है, निरपराध है, मर्यादित है। (उठता है) तू अव पुरपति है, सामंत है। सबका···सव स्थान का!

**तारा** : (विक्षिप्त-सी)
सब का···सब स्थान का !

**तीसरा कृषक** : उस मनुष्य को इस तरह मारकर,
सब का···सब स्थान का !

**वृद्ध** : महातांत्रिक, कृपा कर इस बिन्दु से
आगे बढ़ो !

**तारा** : हमें अब भी उसी नदी-तट पर छोड़
दो !

**तांत्रिक** : सामंत हेरुपक्षेम को अब अवधूत के
दर्शन के लिये पधारना होगा !

[यात्रा शुरू होती है। स्त्रियाँ गाती हैं, फिर अन्य लोग भी]

ए हो, कैसे आवै कैसे जाय
कैसे चीया रहै समाय
ए हो, कैसे तनु मनु थिरु रहै
सतगुरु होय बुझाय कहै।
ए हो, सुन्नै आवै, सुन्नै जाय
सुन्ने चीया रहे समाय
ए हो, सहज सुन्न तनु मनु रहै
ए इस बुझाई मुछुन्दर कहै !

[यात्रा चण्डी-मंडप पर पहुँच जाती है। अवधूत बाहर आता है। लोग चुपचाप नत-मस्तक होते हैं।]

**अवधूत** : मैं आज कितना प्रसन्न हूँ। अब मेरी
महासाधना सम्पूर्ण होने को है। सुनो,

कलंकी अवतार हो चुका है। वह गगनपथ पर है !

**सब लोग** : जै हो···तुम्हारी जै हो !

**पहला कृषक** : तू हमें जीवन देता है।

**अवधूत** : अब वह जीवन, वह आश्चर्य तुम्हारा यह पुरपति देगा !

**तारा** : सुनो, मैं तुझसे एक भीख माँगती हूँ—अपना वह पंखा हमारे हेरुपक्षेम को दे दे ! मुझे इस मुख से डर लगता है।

**तांत्रिक** : इसके मनोरंजन के लिए कुछ आयोजन करो।

**अवधूत** : हाँ, कोई रूपक, कुछ आसवपान··· यह लो महाप्रसाद।

[वृद्ध दौड़ता है।]

**तांत्रिक** : (तारा से)
नहीं, तुम लो, और सब को दान दो।

[तारा मदिराघट लेने का अभिनय करती है।]

**तांत्रिक** : देवि, मुझे दो प्रसाद।

[पिलाती है।]

**तांत्रिक** : सबको पिलाओ··· (कृषकों से) तुम सब···

[तारा हेरुप के पास जाती है। वह

घट परहाथ मारता है। जैसे मदिरा छलक-
कर वृद्ध के वदन पर गिरती है। वह उसे
चाटता है, लोग हँसते हैं।]

**तांत्रिक** : यह जैतवन है। यह हेरुन अपने पूर्वजन्म
में एक कटुभाषी, अज्ञानी भिक्षु था !

[अवधूत तेजीसे अन्दर जाता है।]

**वृद्ध** : अवधूत सहसा चला गया। हमसे कोई
भूल तो नहीं हुई !

**तीसरा कृषक** : वह त्रिकालदर्शी है, उसे अपना पूर्व-
जन्म याद आया होगा !

[इस बीच तारा सबको मदिरा पिलाती है।
तीसरे कृषक के पास जाते ही]

**तीसरा कृषक** : मैं यह प्रसाद नहीं लूँगा ! मैंने
प्रतिज्ञा की है, जब तक मैं उस गिरि-
शिखर पर चढ़कर उस देववृक्ष का
दर्शन न कर लूँगा...

**दोनों कृषक** : (उन्मत्त-से)
प्रतिज्ञा...

[हँसते हैं तथा कृषक स्त्रियों को पिलाते
हैं। तांत्रिक साग्रह तारा को पिलाता है।
सारा वातावरण बदल गया है।]

**तांत्रिक** : यह जैतवन है ! यह अपने पूर्वजन्म
में कटुभाषी भिक्षु था और उससे भी
पूर्वजन्म में यह मृग था !

[सब हँसते हैं।]

**तांत्रिक** : तुम सब मृग थे। यह (तारा) मृगी थी। चल, मृगी बन !

[तारा मृगी बनती है। ]

**तांत्रिक** : और मैं था बोधिसत्व। मैं भी तब उसी मृगकी हीयोनि में था! चलो, अब यह जातक अभिनय प्रारम्भ होगा! (तारा को निर्देश देता हुआ) तुम मृगी बनकर इस मृग (हेरुप) को संग लिये हुए मेरे पास आओगी और मुझसे कहोगी, 'हे मृगराज, इसे मृग-माया सिखाओ'—पर यह मुझसे मृगमाया नहीं सीखेगा और अपने घमंड में घास चरता रहेगा। (तीसरे कृषक से) तुम थे उस जन्म में वधिक। तुम्हीं इस अज्ञानी मृग का वध करते हो ! चलो, अभिनय आरम्भ करो!

**तीसरा कृषक** : मैं वधिक नहीं था !

**वृद्ध** : अच्छा, तब मैं था !

[सब हँसते हैं।]

**तांत्रिक** : चलो, रूपक प्रारम्भ···

[सब मृग बनकर घूमते हैं। बीच में तांत्रिक मृगराज की भूमिका में बैठा है। वधिक मृगया नाद करता हुआ इधर-उधर घात लगाता है।]

**वधिक** : (धनुप ताने नाद करता है।)

ति ति ति ति ओ हौउ
ति ति ति ति ओ हौउ
ति ति ति ति ओ हौउ

**सारे मृग** : (मृगनाद)
एं···औउं
एं···औउं
एं···औउं
एं···औउं

[एक स्वर वधिक का, दूसरा सारे मृगों का।]

**मृगी** : हे मृगराज, इसे मृगमाया सिखाओ, नहीं तो यह वधिक के हाथ मारा जायेगा !

**मृगराज** : ओ मृग ! चल, सीख मृगमाया !

**मृग** : औ हौउ !

**मृगराज** : कटुभाषी मृग, इधर आ !

**मृग** : औ हौउ !

[फिर मृगों का घूमना शुरू होता है।]

**वधिक** : ति ति ति ति ओ हौउ

**सारे मृग** : एं औउं !

[एक नाद वधिक का, दूसरा सारे मृगों का। इसी तरह दो बार चलता है। तीसरी बार वधिक हेरुप (मृग) पर बाण छोड़ता है। हेरुप घायल सिंह की तरह तड़पकर मृगराज (तांत्रिक) पर टूट पड़ता है। चीत्कार से वातावरण डरावना हो गया है। प्रकाश

केवल हेरुप के मुख पर सिमट गया है।]

**तांत्रिक :** यह अभिनय नहीं है !

**हेरुप :** यही है···यही कार्य···अभिनय··· रूपक ! पहचान, देख, ये सब एक-एक बोधिसत्व हैं।

[तांत्रिक बलपूर्वक हेरुप को दूर करता है। हेरुप पीछे से उसके दोनों हाथ पीठ पर बाँध लेता है।]

**हेरुप :** मैं अज्ञानी···अपराधी···पापी··· अधर्मी !

**तांत्रिक :** छोड़ दे, अन्यथा मैं श्राप देता हूँ।

**हेरुप :** मैं शापित···अभिशप्त···

**तांत्रिक :** मैं श्राप देता हूँ।

[सब लोग 'नहीं-नहीं' कहकर मना करते हैं। तारा बढ़कर हेरुप से तांत्रिक को मुक्त करती है।]

**हेरुप :** (छोड़ता हुआ)

यह वास्तविक नहीं, केवल अभिनय है ! अभी रूपक समाप्त कहाँ हुआ! यह वही प्रथम अंक है। (आकाशपटी पर प्रकाश बदलता है—तंत्र मुद्राचिह्न (मोटिफ) उभरते हैं।) मेरी आँखें काले वस्त्र में कसकर बँधी हैं। किसी ऊँची पहाड़ी पर वह बंद रथ चढ़ रहा है। मेरी आँख जहाँ खोली जाती हैं, वह

एक अंधगह्वर है। एक ओर तरह-तरह के शव पड़े हैं और उनकी सड़ती हुई पीठ पर साधक शव-साधना कर रहे हैं। दूसरी ओर पंचमकार की उपासना में लोग संज्ञाशून्य पड़े हैं। जगह-जगह कुंड में मांस-चरबी, गुग्गुल-सिक्कथ हवन की तरह झोंके जा रहे हैं। मैंने कुछ पूछना चाहा, उसी क्षण मेरा मुँह और मेरे दोनों हाथ बाँध दिए गए।

[बँधे हुए वह गिरने का अभिनटन करता है। तांत्रिक बढ़कर उसे बंधनमुक्त करता है।]

**हेरुप** : (उठकर)

पूरे पाँच वर्ष तक मैं इसी तरह बन्दी-विवश बनाकर रखा गया। एक दिन, मैंने कहा, मुझे छोड़ दो, मैं अब प्रश्न नहीं करूँगा। (सहसा बढ़कर आवेश में तांत्रिक को गले से पकड़ लेता है।) फिर इसने मुझे तंत्र-साधना में डाल दिया। इसी तरह लोग मुझे गले से पकड़ लेते और मुझे अभिचार के काले समुद्र में फेंकते! (विराम) मुझे शव-साधना की दीक्षा दी जाने लगी। एक दिन मैंने पूछा :

[नीचे के दृश्य का अभिनटन]

**हेरुप** : शव क्यों ? मुझे मनुष्य की साधना करने दो !

**तांत्रिक** : शव क्या है ?

**हेरुप** : जो जड़ है, प्रश्नहीन है !

**तांत्रिक** : मूर्ख, यह निष्क्रिय शिव है, राग-विराग से रहित, इच्छा-द्वेष से विनिर्मुक्त ! यह साक्षात् आनन्द भैरव है !

**हेरुप** : शव-साधना !

**तांत्रिक** : यथार्थ परिवर्तन के लिए !

**हेरुप** : ओह ! तुझे परिवर्तन में विश्वास है !

**तांत्रिक** : बुद्ध ने कहा था, हर सत्य परिवर्तन-शील है !

**हेरुप** : शव-साधना के इतने दिन बीत गये, परिवर्तन क्यों नहीं हुआ ?

**तांत्रिक** : यह उस क्षण होगा, जब यह शव जीवित मनुष्य की भाँति बातें करेगा !

**हेरुप** : कब करेगा ?

**तांत्रिक** : बन्द कर अपने प्रश्न !

**हेरुप** : बस, अन्तिम प्रश्न · यह शव कब जीवित मनुष्य की भाँति बातें करेगा ?

**तांत्रिक** : औंधे पड़े हुए शव का मुख जब साधक की ओर घूम जायेगा…

**हेरुप** : (स्वप्न देखता-सा)
हाँ, यथार्थ को यदि बदला जा सकता है, तो केवल उसका सामना करके ही। जब औंधा पड़ा मुख सामने आएगा!

**तांत्रिक** : (आवेश में समानान्तर ढंग से)
पापी…अधर्मी…

**हेरुप** : (कहता जा रहा है)
यथार्थ का सामना करके ही, किसी तान्त्रिकता से नहीं!

**तांत्रिक** : (पूरे बल से)
हत्यारा!

[हेरुप पर प्रहार करता है। अभिनटन दृश्य समाप्त। आकाशपटी पर तंत्र मुद्राचिह्न समाप्त होता है।]

**हेरुप** : उसी क्षण मैं आजन्म कारागार में डाल दिया गया। अंधे कुएं की तह में वह कारागार था, जिसमें हर क्षण यही गूँजता था—ह्लि…क्रि…ह्लि…क्रि…!

[तारा और तीसरा रूपक यही दुहराते हैं।]

**तांत्रिक** : बन्द करो यह राग…अभिनय समाप्त हो गया!

**तीसरा कृषक** : हेरुप नगर में लौटा था, तब यही स्वर इसका पीछा कर रहा था।

**तारा** : (विक्षिप्त-सी)
मैं उड़ रही हूँ; मेरे पंख उग ग्राए हैं !

[जैसे वह उड़ना चाह रही हो।]

**पहली स्त्री** : हमें संग ले चल।

**दूसरी स्त्री** : हमें भी ग्रपने पंख में बाँध ले !

**तारा** : चलो, उसी नदी-तट पर खेलें !

[दोनों स्त्रियाँ ग्रौर हेरुप एक संग कहते हैं, 'चलो'। उड़ती हुई तारा के संग सब जाने लगते हैं। तांत्रिक बढ़कर हेरुप के सामने खड़ा हो जाता है।]

**तांत्रिक** : बस, ग्रब कुछ नहीं !

**हेरुप** : मैं पुरपति सामन्त हूँ !

[सहसा ग्रवधूत प्रकट होता है।]

**ग्रवधूत** : तू ग्रब कुछ नहीं है। छीन लो पुरपति का उत्तरीय। कंठहार उतार लो···
ग्रब यह सामन्त नहीं !

[हेरुप उतारकर कृषकों को दे देता है।]

**ग्रवधूत** : इसे ग्रब यहाँ से वापस जाना होगा!

[तेजी से प्रस्थान]

**तीसरा कृषक** : हम इसे यहाँ से नहीं जाने देंगे; हमने प्रतिज्ञा की है। वह हमीं थे, जिसके कारण तब इसे यहाँ से जाना पड़ा

था। वह हमीं हैं, जिन्होंने इसे सामंत बनने को विवश किया···याद करो···

**हेरुप** : हाँ, याद करो, सोचो! यह कैसा नाटक था। किस रुपक का अभिनय हमसे कराया गया!

[दोनों कृषक मूर्तिवत शून्य में देख रहे हैं। एक भयावह सन्नाटा खिंच गया है।]

**तांत्रिक** : तुझे वापस जाना होगा!

**हेरुप** : वापस जाना होगा···(सहसा) नहीं, ये कृषक मेरी रक्षा करेंगे···

**तांत्रिक** : असंभव!

[तेजी से बाहर जाता है।]

**हेरुप** : क्यों···तुमने प्रतिज्ञा की है न!

[सब जैसे गूँगे हो गए हैं।]

**हेरुप** : (तीसरे कृषक से)
तुम्हें याद है?

**तीसरा कृषक** : कह नहीं सकता!

**हेरुप** : (वृद्ध से)
तुमने सुना होगा, इन्होंने एक संग हाथ उठाकर प्रतिज्ञा की थी!

[वृद्ध सूनी आँखों से एकटक देखता है।]

**हेरुप** : (भयभीत-सा)
नहीं, नहीं, मुझे इस तरह मत देखो! तुम लोग चुपचाप कुछ सोच रहे हो न!

**वृद्ध** : सोचना-विचारना अब व्यक्तिगत विषय नहीं है !

**हेरुप** : और शंका करना ?

**तीसरा कृषक** : सुना है, शंका हमारे पूर्वजों ने की थी; गरुड़ ने काकभुशुंडि से पूछा था, सबसे भयंकर पाप क्या है ? यही शंका करना। युधिष्ठिर ने सर्प से यह शंका की थी…मृत्युकाल में मनुष्य शरीर तो यहीं त्याग देता है…

**तांत्रिक** : (तेजी में आकर)
रथ तैयार है !

**हेरुप** : वही रथ ! दो क्षण समय दे सकते हो !

**तांत्रिक** : केवल दो क्षण !

[तांत्रिक का प्रस्थान]

**हेरुप** : मेरी ओर देखो, मैं जा रहा हूँ।

**तीसरा कृषक** : हम लज्जित भी नहीं हैं ! इतना भी साहस नहीं !

**हेरुप** : साहस है तुममें, तुम्हें किसी ने डरा दिया है !

[एक सन्नाटा खिंचता है।]

**पहला कृषक** : तुम जाने को स्वयं क्यों नहीं मना कर देते ?

**दूसरा कृषक** : तुम क्यों जाते हो ?

**तीसरा कृषक** : हाँ, क्यों जाते हो ?

**वृद्ध** : क्यों ? किसलिए ?

**हेरुप** : हाँ, इसी तरह पूछो मुझसे। इसी तरह प्रश्न करना शुरू करो !

**पहला कृषक** : (सभय)
नहीं, नहीं, हम तुम्हारी बातों में नहीं आते !

**दूसरा कृषक** : तुम जाओ, तुमसे हमें डर लगता है !

**हेरुप** : (जैसे दलदल में गड़ता जा रहा हो)
मैं जब इस नगर से गया था, तब यह नगर भयभीत था। हर वर्ष इसे रौंदती हुई एक सेना गुजर जाती थी, और सदा यह सुनायी पड़ता था, हम संकट-काल में हैं। और इतने वर्षों बाद, जब मैं इस नगर में लौटा, तो अब वह संकटबोध भी चला गया। यह अनुमान लगाना कठिन है कि यह नगर अब किस काल में है !

**तीसरा कृषक** : न जाने का तुम संकल्प क्यों नहीं करते!

**हेरुप** : (बेहद ठंडे स्वर में)
बचपन में संकल्प किया था, पर सहसा एक दिन देखा, कि संकल्प का निर्णय किसी और के हाथ में है, तब से केवल प्रश्न करने लगा···

[तांत्रिक तेजी से ग्राकर हेरुप को पकड़ लेता है ग्रौर उसे खींच ले जाना चाहता है ।]

**हेरुप :** (छुड़ाकर)
तू सदा मेरा पीछा करता रहा है। ग्रौर इन दो क्षणों में मुझे यह ग्रनुभव हुग्रा, तू स्वयं ग्रपना पीछा कर रहा है। यह ग्रवधूत ग्रपना पीछा कर रहा है। हम सब पीछे भाग रहे है। वही कलंकी हमारा पीछा कर रहा है। (रुक जाता है) दो क्षण जो मुझे मिला था, वह यूँ ही बीत गया। मैंने विरोध किया था, इसका प्रमाण क्या रहेगा ? तुमने सहा है, इसका साक्षी कौन होगा ? मेरे वे दो क्षण बीत गए, तुम्हारे वे क्षण ग्रब भी शेष हैं ।

[तेजी से मुड़ता है, दूसरी ग्रोर से दौड़ी हुई तारा ग्राती है।]

**तारा :** मैं कब से नदी-तट पर तुम्हारी राह देख रही थी ! (दौड़कर हेरुप के ग्रंक से लग जाती है।) चलो, मैं वहुत थक गयी हूँ ! ग्ररे, तुम कुछ बोलते क्यों नहीं ? तुम सब इस तरह चुप क्यों हो ? ···तांत्रिक, चलो, हम

तुम्हें वह धवल पक्षी दिखाएँगे !

**तांत्रिक** : (हेरुप को खींचता-सा)

चलो !

**तारा** : कहाँ ?

[हेरुप को जैसे पकड़ लेती है। हेरुप छुड़ाकर तेजी से जाता है। एक क्षण वह मूर्तिवत खड़ी रहती है, फिर हेरुप का नाम लेकर चीखती है और उसके पीछे भागती है।

पीछे-पीछे तीसरा कृषक दौड़ता है। एक सघन संगीत से सारा वातावरण भर जाता है—जैसे संगीत का ज्वार उठा हो, इसी के संग प्रकाश बुझता है, पर संगीत शिखर पर पहुँचकर भाटे की तरह दूर लौट जाता है और इसी के संग फिर प्रकाश लौटता है।

दृश्य में दोनों कृषक स्त्रियाँ बैठी हुई अपने वस्त्र सिल रही हैं और गा रही हैं। तारा उनसे दूर चुप-उदास बैठी है।]

तुला धुणि-धुणि अंसु रे अंसु
अंसु धुणि-धुणि निखर सेसु
तउसे हेरुण पाविअइ
तुला धुणि-धुणि अंसु रे अंसु !

**तारा** : (सहसा उठती है)

हे, मैं जाती हूँ !

**पहली स्त्री** : उड़ना नहीं !

**तारा** : (बैठती हुई)
मेरे पास पंख नहीं हैं !

**दूसरी स्त्री** : तू भीअपने वस्त्र सिल ले ! तू हमसे कितनी सुन्दर है !

**पहली स्त्री** : बहुत दिन हुए, हमने कुछ सुन्दर नहीं देखा !

**दूसरी स्त्री** : सुन्दर की कल्पना तक न की !
[चुप हो, वस्त्र सिलने लग जाती हैं।]

**तारा** : वह अपने आप हमसे बातें करता रहा। हम चुप थे। इस बार जब वह आयेगा, हम उससे बातें करेंगे।

**पहली स्त्री** : तू किसके आने की बात कर रही है !

**तारा** : हम दोनों बालू रेत पर दौड़ते थे।
(उठ जाती है जैसे दौड़ना चाहती हो)
रेत की आँधी मेरे कंठ में उठ रही है। मैं बोलने में असमर्थ हूँ। मेरे पूर्व-अंग में सन्नाटा खींचती हुई इस उत्तर-अंग में वह आँधी बढ़ रही है ! वह चल पड़ा है। यह आँधी उसके चलतेहुए पैरोंसे उठ रहीहै !

**दूसरी स्त्री** : (सभय)
हे, यह किसकी बात कर रही है ?

**तारा** : (पास आकर)
आओ, हम उसकी बातें करें। वह

हमसे न जाने क्या-क्या कहने आया था!

**दोनों स्त्रियाँ** : हेरुप···हेरुप···

**तारा** : वह आया था, हमने उसे नहीं पहचाना!

**दोनों स्त्रियां** : (डर से खड़ी हो)
हाय, यह क्या बक रही है !

**तारा** : वह फिर आयेगा। इस वार हम उसे पहचान लेंगे। (सहसा वाहर के लोगों से पूछती है) ए हो···हो ! उसके बारे में कोई समाचार है !

**अनक स्वर** : (पृष्ठभूमि से)
बस, वह आने को है। कल आयेगा··· कल, संध्या समय। हाँ, आने वाला कल···मैंने उसके दौड़ते हुए घोड़े की आवाज सुनी है। उसकी तलवार चमकी थी···

[लोग वातें करते हुए चले जाते हैं।]

**तारा** : (उदास वैठती है)
ओह, उसके वारे में किसी को कोई समाचार नहीं !

**पहली स्त्री** : (वैठती हुई)
किसको भला इतना अवकाश है। लोग उसके स्वागत की तैयारी में लगे हैं। देखो न, मैं इस फटे वस्त्र को सिलकर कमर में बाँधूंगी !

**दूसरी स्त्री** : इसमें गोटा लगाकर, तब मैं इसे उत्त-

रोय बनाकर ओढ़ूंगी !

[दूसरी ओर (दायीं) दोनों कृषक बातें करते हुए आते हैं ।]

**पहला कृषक** : सोचो तो भला, कहता था, कलंकी अवतार के लिए हम स्वयं क्यों नहीं प्रयत्न करते !

**दूसरा कृषक** : उसके कहने का मतलब यह था कि अपनी चिन्ता हमें खुद करनी चाहिए, नहीं तो हमारी चिन्ता करने वाला कोई और आ जाएगा !

**पहला कृषक** : वह हमें संकट में डालने आया था !

**दूसरा कृषक** : कितमें दिन हुए हमारे भाई का कुछ भी समाचार न मिला ।

**पहला कृषक** : जिस हेरुप के पीछे वह भागा गया था, जब उसका ही कोई समाचार नहीं···

**दूसरा कृषक** : हेरुप कितना निर्भय था उस अभिनय में, बाप रे बाप !

[इधर की ओर वार्ता]

**तारा** : वह आगे-आगे स्वामी की तरह चल रहा था, तांत्रिक पीछे-पीछे चल रहा था ।

**पहली स्त्री** : यह कैसी बातें करती है !

**दूसरी स्त्री** : वह रथ पर ले जाया गया था ।

[दूसरी ओर]

**पहला कृषक** : वह हमारा नहीं था ।

**दूसरा कृषक** : पर हमने उसे वचन दिया था ।

**पहला कृषक** : उसने भी तो हमें वचन दिया था !

**दूसरा कृषक** : वह हमारा था…हम कितने अभागे !

**पहला कृषक** : अपूर्व होने का मूल्य चुकाना ही पड़ता है !

[इधर की ओर]

**तारा** : हम दोनों बालू के समुद्र में खेलते हुए इस नगर की असंख्य कहानियाँ सुनते थे । वे कहानियाँ कितनी महान थीं !

[समानान्तर सम्वाद चलता है ।]

**पहला कृषक** : वह कितना भयभीत था !

**तारा** : वह कितना निर्भीक था !

**पहला कृषक** : तांत्रिक ने भयानक दंड दिया होगा ।

**तारा** : वह अपराजित है !

**पहला कृषक** : हम अब तक उस गिरि-शिखर पर नहीं चढ़ पाये !

**दूसरा कृषक** : पता नहीं, उस गिरि-शिखर पर क्या है !

**तारा** : (सहसा)

वह कोई आ रहा है ! देखो-देखो, वह चंडी-मंडप की ओर मुड़ गया ।

**पहली स्त्री** : वह तो पैदल है !

**दूसरी स्त्री** : वह तो वृद्ध है !

**तारा** : वह दौड़ता हुआ जा रहा है। चलो, वह कोई समाचार ले आया होगा !

[दोनों स्त्रियाँ तारा के साथ चलती हैं।]

**पहली स्त्री** : हमें पता है, कलंकी के यहाँ आने का समय कल है।

**दूसरी स्त्री** : ठीक संध्या समय !

**पहली स्त्री** : कलंकी से मैं एक बात पूछूँगी !

**दूसरी स्त्री** : मैं उससे एक वर माँगूँगी !

**तारा** : शांत !

[यात्रा रुक जाती है। भागा हुआ वृद्ध आ गिरता है। दोनों कृषक उसे घेर लेते हैं। वृद्ध कुछ वताना चाह रहा है, पर उसके मुँह से शव्द नहीं फूट रहे हैं। वह दाएँ हाथ को हवा में चक्र की तरह घुमा रहा है।]

**पहला कृषक** : कलंकी ?…तांत्रिक ?

**तारा** : हेरुप !

**वृद्ध** : (सिर हिलाकर मना करता है।)

**दूसरा कृषक** : हमारा कृषक भाई ?

**वृद्ध** : (उठता हुआ)

हाँ, हाँ, वही। वह गिरि-शिखर पर चढ़ गया।

[सव आश्चर्यचकित देखते हैं।]

**वृद्ध** : मैंने उसे उतरते हुए देखा। उसके दाएँ हाथ में कुछ था। वह मुझे

पुकारने लगा। मैं डर के मारे भागा...
उसके हाथ में कुछ चमक रहा था !

**पहला कृषक** : देववृक्ष के फल ?

**वृद्ध** : नहीं, कुछ और था !

[अवधूत सहसा निकलता है।]

**अवधूत** : इन निरर्थक बातों में कोई न आए ! मेरी महासाधना पूरी हो चुकी है। कलंकी पृथ्वी पर आ चुका है। वह कल ठीक सूर्यास्त के समय यहाँ आ रहा है !

**तारा** : वही हेरुप बन्दी आत्माओं को मुक्त करेगा !

[दोनों स्त्रियाँ भयभीत हैं।]

**तारा** : वह नहीं आया तो शव-भरे ये द्वार नहीं खुलेंगे !

**अवधूत** : कलंकी से जो कोई कुछ माँगेगा, वह तुरंत देगा !

**तारा** : इस अभिशप्त नगर में, न जाने कब से सड़ते हुए शवों को सुबह होने से पहले वह नीचे फेंक आएगा, उस गहरे जल में, जहाँ से प्रकाश उगता है !

**अवधूत** : कलंकी के आते ही कहीं कोई असंतोष नहीं रहेगा !

**तारा** : इस मर्मद्वार को खोलने कोई और दूसरा नहीं आएगा। उसके बिना, इन

सड़ती हुई अस्थियों को कंधे पर लादे हुए सूरज के उस ऊँचे कगार तक कोई नहीं पहुँचा पाएगा !

**वृद्ध** : वह कुछ इसी तरह बोल रहा था, और सारी गिरि-घाटियों में जैसे कुछ कौंध रहा था !

**अवधूत** : सावधान !···जाओ, उसके स्वागत की तैयारी करो !

**वृद्ध** : (सहसा)
और यदि वह कलंकी नहीं आया तो ! (सभय) नहीं-नहीं, मेरा मतलव है···नहीं-नहीं···

[सव उसे 'मारो-मारो' कहते हुए घेर लेते हैं। वह भागने का प्रयत्न करता है। लोग उसे दवोचकर मार देते हैं। तारा जड़वत देखती रह जाती है।]

**तारा** : यह क्या कर डाला ! (अवधूत से) तुझे अब भी शव की आवश्यकता थी क्या ? तेरी शव-साधना तो पूरी हो चुकी थी ! (वृद्ध के शव को छूती है) सुन ले, वृद्ध के इस शव को अपने कंधे पर उठाए, नगरसीमा पर खड़ी मैं उसकी प्रतीक्षा करूँगी !

[प्रकाश बुझता है। कलंकी संगीत (नगाड़ा-तुरही) धीरे-धीरे उभरता है।

इसी के संग प्रकाश लौटता है। लोग आकाश-पटी की दायीं दिशा में आँखें गड़ाये कलंकी के आने की राह देख रहे हैं।]

**पहला कृषक :** सुनो उसके घोड़े की टाप!

[सब लोग कान लगाये चुपचाप सुनते हैं।]

**पहली स्त्री :** हाय, उसकी तलवार चमकी है!

**दूसरी स्त्री :** हाँ, हाँ, मैंने भी देखी!

[सब चुपचाप प्रतीक्षारत]

**पहला कृषक :** वह कोई आ रहा है!

**दूसरा कृषक :** हाँ, कोई है!

**पहली स्त्री :** पर वह तो मनुष्य है!

**दूसरी स्त्री :** हाय!

**दूसरा कृषक :** (सहसा)

हमारा बंधु · बाँसुरीवाला···देववृक्ष का दर्शन करके आ रहा है!

[लोग आगे बढ़ते हैं, सहसा पीछे हटते हैं। टूटा-सा तीसरा कृषक आता है, मंच पर आकर जैसे वह बिखर जाना चाहता है।]

**तीसरा कृषक :** (बल संचित कर)

वही बोधिसत्व कथा। सब मृग बोधिसत्व थे। सब एक समान थे। सब उसी जैतवन में विहार करते थे—रास्ते भर हेरुप मुझे वही कथा सुनाता जा रहा था, विक्रम विहार के द्वार

पर मुझे एकांत में ले जाकर हेरुप ने कहा, 'तुम भी वही बोधिसत्व हो,' बस, इतना कहकर हेरुप विक्रम-विहार में चला गया। मैं सूर्यास्त होने तक वहीं बैठा रहा, फिर मुझे सूचना मिली, हेरुप को प्राणदंड दिया गया। (स्त्रियाँ रो पड़ती हैं। कृपकों के माथे झुक गए हैं।) सारी रात कोई मेरे कानों में बाँसुरी बजाता रहा; और हेरुप की यह बात संगीत बन मुझ में गूँजती रही, हम सब शव नहीं, बोधिसत्व हैं···आगे-आगे वही संगीत, पीछे-पीछे मैं; और मैं उस गिरि-शिखर पर जा पहुँचा। देववृक्ष को ढूँढने लगा। रात हो आयी, मैं प्रातःकाल की प्रतीक्षा में वहीं बैठा रहा। सूर्योदय हो गया—कहीं कोई वृक्ष नहीं··· एकाएक कुछ चमका, पास जाकर देखता हूँ, इस कृपाण से आत्महत्या किया हुआ अकुलक्षेम का शव! (दिखाता है।) लो, पहचानो···

[कृपाण को सब देखते हैं।]

**पहला कृषक** : अकुलक्षेम शत्रुओं से नहीं लड़ा!

**दूसरा कृषक** : उसने इस तरह आत्महत्या की!

**दोनों कृषक** : ऐसा क्यों ? किसलिए ?

[तेजी से अवधूत निकलता है ।]

**अवधूत** : अब मैं जा रहा हूँ ।

**सब लोग** : क्यों···क्यों ?

**अवधूत** : अब कलंकी नहीं आएगा !

**सब लोग** : क्यों ? क्या हुआ ?

**अवधूत** : (चुप है ।)

**पहला कृषक** : देख यह कृपाण···उसने आत्महत्या की !

**दूसरा कृषक** : विश्वासघात किया !

**तीसरा कृषक** : तू कौन है ? तू अपना मुँह सदा छिपाये क्यों रहता है ?

**अवधूत** : हम परस्पर सामना कर नहीं सकते ! तुम्हें यही रहस्य प्रिय था । तुम्हें परिवर्तन से भय था । तुम्हें प्रत्यक्ष से आतंक और परोक्ष से प्रेम था ।

**पहला कृषक** : लगता है, यह वही अकुलक्षेम है !

**अवधूत** : ओह! जान लिया । (पंखा हटाता है ।) अब कोई लाभ नहीं !

**तीसरा कृषक** : मारो-मारो पकड़ लो···!

[सब आवेश में दौड़ते हैं । उसे मारते हैं । पर वह सर्वथा अनाहत, अविचल खड़ा है । मारने वाले स्वयं थक जाते हैं ।]

**अवधूत** : थक गये ! आओ, और मारो !

**पहली स्त्री** : सावधान ! यह कोई प्रेत है !

**दूसरी स्त्री** : अकुलक्षेम का प्रेत !

**अवधूत** : मैं तुम्हीं सब में से जन्मा हूँ, तब भी और मृत्यु के बाद भी। मैं तुम सब की इच्छा हूँ !

[जाने लगता है। लोग उसे घेर लेते है।]

**अवधूत** : ओह ! तुम लोग मुझे मार डालना चाहते हो ! पर यह असंभव है !

**पहली स्त्री** : तूने हमारी संतानों को महामारी, अकाल, युद्ध से मार-मारकर शव-साधना की !

**दूसरी स्त्री** : तूने सारे वृद्धों की हत्या करायी !

**पहला कृषक** : तूने झूठे प्रचार किये !

**दूसरा कृषक** : तूने विश्वासघात किये !

**तीसरा कृषक** : तूने भ्रम फैलाये !

**अवधूत** : (घृणा से)

हट जाओ ! मेरे और पास आने का प्रयत्न मत करना। मैं तुम सबसे अपने जन्म के लिए घृणा करता हूँ। उसी ने मुझे पशु बनाया। उसी ने मुझसे आत्महत्या करायी। वही मुझे प्रेत बनाकर फिर यहाँ ले आया। दूर हटो ! तुम्हें देखकर मेरी इच्छा थूकने की होती है। मेरे मुख का स्वाद भयानक है…

[तेजी से पीछे की ओर भागता है। सब उसी दिशा में देख रहे हैं। पृष्ठभूमि में घोड़े के दौड़ने की आवाज़ उभरती है। बाहर से दौड़ी हुई तारा आती है।]

**तारा** : सुनो···सुनो! नगर की सीमा पर वह श्वेत अश्व दौड़ रहा है। उसकी पीठ खाली है। कोई पकड़ ले उसे! कोई उसकी सूनी पीठ पर बैठ जाय!

[वायुमंडल में घोड़े की दौड़ सुनायी दे रही है। लोग उसे सुन रहे हैं।]

**तारा** : यदि तुममें से कोई उसे नहीं पकड़ेगा, तो कोई और आकर उसे पकड़ लेगा, और उस सूनी पीठ पर बैठ जायेगा··· सुनो···सुनो·· सुनो!

[सब लोग इधर-उधर बढ़कर मानो उस स्वर का पीछा कर रहे हैं। और अन्त में वे सब आकाशपटी की ओर निहारते हुए मूर्तिवत् खड़े रह जाते हैं। कलंकी का संगीत घोड़े की चाल में मिलता है। मंच का प्रकाश बुझ जाता है। केवल आकाशपटी पर लालिमा स्थिर है।]

# कलंकी नाटक :
# कुछ प्रस्तुतीकरण के प्रसंग में

'कलंकी' रूपकात्मक नाटक होने के कारण प्रस्तुतकर्ता को अतुल स्वाधीनता देने वाला है। यह व्याख्या-प्रधान है, वल्कि व्याख्याधर्मी नाटक है, इसलिए यह निर्देशक, रंगशिल्पी और अभिनेता को उसके व्यक्तित्व और साहस के अनुसार व्याख्याएँ देने की छूट और सामर्थ्य प्रदान करता है।

सवसे अधिक स्वाधीनता इसमें प्रयुक्त रंग-परम्पराओं में है। ये रंग-परम्पराएँ इसलिए और भी जीवंत तथा मुक्तिदायिनी हैं कि इनका प्रयोग जिन रंग-धर्मी वस्तु-विषय और नाट्यसामग्री को वहन और प्रकट करने के उद्देश्य से हुआ है, वे न किसी निश्चित काल से सीमित हैं, न किसी जड़ विश्वास से।

'कलंकी' में अभिव्यंजना के लिए कुछ रंग-परम्पराओं को अपारम्परिक रूप में प्रयुक्त किया गया है। यह मात्र प्रयोग के लिए नहीं, उस महत् उद्देश्य के लिए, कि नाटक सत्य को किसी भी तरह संस्पर्श कर सके। दर्शक और व्यक्ति के वीच का व्यवधान, दूरी, अलगाव किसी भी तरह भर सके। व्यक्ति और उसके यथार्थ में फिर से सम्वन्ध जुड़ सके।

पर रंग-परम्पराओं के अपारम्परिक व्यवहार से यह अर्थ नहीं कि उनके व्यवहार की कठिनाइयों से यहाँ किसी तरह का पलायन है। नहीं। यह अपारम्परिक कलात्मक यथार्थ की माँग के संदर्भ में हुआ है। अर्थात् परम्परा का दायित्व यहाँ दुगुना बढ़ गया है। चीज़ों, वस्तुओं और स्थितियों का और गहराई से वेधन हो सके, उन्हें और सम्पूर्ण ढंग से प्रकट किया जा सके, इसीलिए ऐसा किया गया है।

यथार्थ को यहाँ यथार्थ से न पकड़कर कविता-संगीत के तत्त्वों से, साधनों से पकड़ने का यत्न किया गया है। हमारे समय में यथार्थ अब वह यथार्थ नहीं रहा, जो प्रत्यक्षतः दिखता है, या जैसा दिखाया जाता है। दरअसल इसके रहस्य का उद्घाटन उस काव्य-कल्पना से ही संभव है, जो प्रत्यक्ष को जान-बूझकर अप्रत्यक्ष में ले जाती है, जो उसके प्रकट स्वरूप को अपने ढंग से परिवर्तित कर उसके रहस्य का बोध कराती है।

यह बात केवल इस नाटक से ही नहीं संबंधित है, बल्कि उस समूची प्रक्रिया से संबंधित है, जहाँ यथार्थवादी रंगमंच के चुकने और अपर्याप्त हो जाने के बाद अभिव्यंजनावादी रंगमंच का जन्म होता है: और जहाँ से यह आधुनिक जीवन के नाटक को प्रकट करने का सहज सामर्थ्य पाता है।

'कलंकी' अत्यन्त श्रम-साहससाध्य नाटक है। और यही हमारे आसपास नहीं है। फिर किसके लिए इसके प्रस्तुतीकरण की प्रतीक्षा की जाय? स्थापित का एक अस्त्र यह भी है कि उसने सारे साधनों को अपनी मुट्ठी में कस लिया है और वह चाहता है कि रंगकर्मी उसकी शरण में जाएँ और अपने निजत्व को बाजी पर रख उसकी दया की भीख माँगें।

आइये, पहले इसके स्वरूप के बारे में सोचा जाय। यह कुछ आदिमकथा की तरह नहीं लगता? इसके रूप पर लोकशैली की क्या गहरी छाप नहीं है? कार्य मंच, वस्त्र, संगीत सब स्तरों से कुछ चटक, कुछ धूमिल, घनत्व और ठोस पदार्थ समूह जैसा कुछ।

ध्वनियाँ कितनी तरह-तरह की इस्तेमाल हुई हैं। बीजाक्षरों, मंत्रों का उद्देश्य ध्वनियों के बीच नाट्य प्रभाव को तीव्र और गहन बनाने के लिए भी है। ये बीजाक्षर हैं, और ध्वनि भी, मैंने ध्वनि के रूप में ही इन्हें ज़्यादा लिया है। ये कार्य की रह पृष्ठभूमि में खिंचे रहते हैं। और तीसरा आयाम देते हैं।

रंग—लाल, काला और इसके आसपास के कुछ रंग। थके, पराजित जैसे आदिवासी लोग हों, धर्म के कर्मकांड से भयभीत और श्लथ। रंग चमकता हो, वस्त्र अभिव्यंजक हों।

जहाँ की देश-काल-परिस्थिति इतिहास के किसी विशिष्ट काल-खंड में नहीं बाँधी जा सकती, जहाँ सहसा नाटक कालक्रम को तोड़ देता हो, जहाँ अकस्मात् नाटक का चित्त आमूल ढंग से बदल जाता हो, जहाँ हर बड़े कार्य के बाद सहसा यात्रा शुरू हो जाय और देश-स्थान सहसा बदल जाय, ऐसे नाटक के लिये मंच कैसे बनाया जाय ? क्या कुछ इस तरह नहीं, जहाँ अभिनय के लिये कई क्षेत्र और विभिन्न धरातल हों। या विभिन्न धरातल न भी संभव हों तो कई अभिनय-क्षेत्र चरित्र-अनुकूल निश्चित न कर लिये जाएँ। वर्तमान से सहसा भूत में जाकर जो कुछ अनायास ही घटने लगता है, उसके लिए एक अभिनय-क्षेत्र, अभिनय से ही क्यों न निश्चित कर लिया जाय !

प्रकाश इसके बदलते, भागते चित्त को प्रकट करने में बहुत ही ज्यादा सहायक हो सकता है। काला रंग अँधकार का है, विशेषकर जब अचानक सारा प्रकाश एक क्षण के लिये बुझ जाय। और जब वापस आये तो उसकी केवल एक किरण तांत्रिक के सीने पर बैठे हुए हेरुप के मुख पर पड़े, और लगे कि जैसे कोई जानवर तत्काल मरे हुए मनुष्य के शव पर है। और शेष लोग भयभीत अँधकार में डूबे हैं, मानो बुझी हुई चिता के चारों ओर बैठे हुए लोग हैं वे। या अपनी ही मौत पर मातम मनाता हुआ मानव-प्रतिनिधि है, जो मंत्रोच्चारण केवल भयवश कर रहा है, विश्वासवश नहीं। अर्थहीन मंत्र ही जैसे वह अंधगुफा है जहाँ ये हर संकट में भागकर छिप जाने की कोशिश करते हैं। आकाशपटी पर आकाश का नीला गहरा रंग. शेष मंच प्रकाशहीन। कृषकों की, नगर के लोगों की गाती हुई यात्रा शुरू होती है और सिलहुट की तरह चलते हुए लोग। प्रकाश इधर-उधर छिटपुट उभरने लगता है। कभी यही प्रकाश दृश्य को भयावह बनाता है, कभी स्वप्नवत और कभी संगीत जैसा। और जब नाटक सहसा वर्तमान से भूत में जाता है, विशेषकर विक्रम विहार के जीवनकाल में, तो पीछे आकाशपटी पर कुछ ऐसे

कटावदार तांत्रिक 'मोटिफ' उभरते हैं जो मनुष्य के अवमूल्यन की प्रक्रिया की याद दिलाते हैं ।

कलंकी नगर के लोग सीधे-सादे हैं । इन्हें एक ऐसे शासक या नेता की जरूरत है, जो इन पर शासन और इनका नेतृत्व ही नहीं, वल्कि जो इन्हें इसके योग्य भी वनाये रखे । लगता है इनमें केवल अस्तित्ववोध है, जीवनवोध नहीं । ये चाहते भी शायद नहीं कि कोई इनके जीवनवोध को जगाये । अकुलक्षेम—इनका दिवंगत सामन्त इसके लिए एक आदर्श राजा था । वह दरअसल इन्हीं के अस्तित्व का प्रतीक और प्रतिनिधि दोनों था ।

कलंकी के लोग नगर के नहीं, लोक-जगत् के लोग हैं । निरक्षर, आलसी, अंधविश्वासी, परिवर्तन से भयभीत; व्यक्तिगत, निजी सुख-दुख के लोग । इनका सम्वन्ध सीधे धरती से है । पर यह धरती भी इन्हीं लोगों जैसी है । तभी ये उससे चिपके-जुड़े हुए हैं । इनका आपसी सम्वन्ध भय-प्रीति, दुख-सुख, पाप-पुण्य के आदिम मूल्यों से है । वही इनका भावात्मक स्तर भी है । ये इन्हीं मुहावरों से ही अनुभव करते हैं ।

इसे प्रकट करने के लिए इस नाटक का स्वभाव और इसकी प्रकृति भी कुछ उसी तरह की है—सीधा-सादा, कलाहीनता का सत्याभास पैदा करने वाला । संगीत से इसके इस स्वभाव की रचना की गयी है—गेय और वादन इन दोनों धरातलों से । गेय में भी, विना शव्द-वोल के भी और वादन में भी इसी तरह··· गीत इनके जीवन का एक अंग था और यहाँ गीतों के प्रयोग कई अर्थधर्मी हैं । गीत यहाँ नाटकीय कार्य और सम्प्रेषण दोनों है । गीत इतने प्राचीन हैं, क्योंकि इनसे नाटकीय व्यापार को, जीवन को तीव्रता मिलती है । यह दृश्यों का सेतु है तथा घटनाधर्मी कार्यों तथा गतियों को एक चित्त में वाँधने वाला है । ये लोग अपने भावों को केवल इसी तरह प्रकट कर सकते थे ।

वही लोकधर्मिता इसकी भाषा, वोली, प्रवाह तथा उससे निर्मित विम्वों में है । इस नाटक का मन और चित्त, तभी वहुत कुछ आदिवासी लोगों के समान है ।

लोगों के आने-जाने, गिरोह में चलने-फिरने के पीछे भी वही संगीत-सा कुछ लगता है। यहाँ तक कि परस्पर बोलने में वही लयात्मकता है; इस तरह व्यापक अर्थ में संगीत इस नाटक का अविभाज्य अंग है ; बल्कि यहाँ तक कह सकते हैं कि इसकी संरचना ही संगीत के भीतर से है। बाँसुरी जैसे प्रारम्भ में पहाड़ों के मध्य में बज रही है और उसका सुर पहाड़ों से अपना माथा टकरा रहा है। बीच-बीच में ऐसे 'मेटलिक' और काष्ठ स्वर उठते हैं, लगता है हवा में साँप उड़ रहे हों।

संगीत की मूल संरचना आदिवासियों की पद्धति के अनुरूप हो सकती है। नगाड़े, ढोल और मुँह से फूँककर बजाये जानेवाले लोक-वाद्य यंत्र के संगीत से इसका वातावरण कर्मकांड जैसा संत्रस्त बनाया जा सकता है। एक स्तर पर यह पूरा नाटक प्राचीन नाटक की ही भाँति मानो एक धार्मिक कर्मकांड है, अंतर केवल इतना है कि यह धार्मिक कर्मकांड राजनीति का है, धर्म का नहीं। आग्रह यद्यपि धर्म पर है, इससे भी ज्यादा तंत्र पर। पता नहीं यह तंत्र किसी तांत्रिक का है, या लोक-कल्पना के नाम पर किसी निरंकुश राजा का।

यह सब कुछ 'कलंकी' के कार्य को ही रेखांकित और उसे उजागर करने के लिये है। हर कार्य, चाहे वह कर्मकांड हो या संघर्ष, बेहद मुस्तैदी और जीवन्तता से उसकी रचना करनी होगी। कार्य में गति और त्वरा ही प्राण है, फिर उसका सहसा टूट जाना और एक ठंडा विराम इसकी कलात्मक शक्ति है।

हर अनुक्रम, हर दृश्य एक 'टैब्लो' की तरह है। हर 'टैब्लो' अगले से इस तरह निबंधित है जैसे एक समूचा कलंकी-नृत्य, समूचा कलंकी-संगीत। बीच में कहीं कुछ यदि इसकी अवधता, सहज धार में व्यवधान डालता है, तो वही इसका शत्रु है, और उसे किसी भी कीमत पर बाहर निकाल देना ही उचित है—चाहे वह कितना आकर्षक अभिनेता हो, चाहे वह संगीत का कितना अच्छा टुकड़ा हो,

या कितना नाट्यगर्भित समूहन या गति-संचार हो।

'कलंकी' किसका है ? निर्देशक का, अभिनेता का, रंग-शिल्पी का या दर्शक का ? यह सबका है जिसमें जितनी सर्जना-कल्पना शक्ति हो, उसके प्रयोग के लिये यह क्षेत्र देता है।

मैंने स्वयं पहली बार अपने इस नाटक को खेला है। यह मेरी रचना-प्रक्रिया ही है। मैं नाटक को मंच पर सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष प्रस्तुत कर इसकी रचना-प्रक्रिया को पूरी करता हूं। मैं इसमें सर्वत्र हूं, और कहीं भी नहीं हूं। यही मेरी सीमा है और यही मेरा सामर्थ्य है। इसीलिए मैं अपने प्रस्तुतीकरण के सीमित अनुभवों को आपके सामने नहीं रखना चाहता।

इसका हर प्रस्तुतीकरण इसका नया जन्म होगा और हर निर्देशक, अभिनेता और रंग-शिल्पी इसका स्वतंत्र रचनाकार होगा। मैं कहीं भी बीच में नहीं आता। यह कृति आपकी है, मैं केवल माध्यम था।

—

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
No. 39869
21.6.72
SIMLA

या कितना नाट्यगर्भित समूहन या गति-संचार हो ।

'कलंकी' किसका है ? निर्देशक का, अभिनेता का, रंग-शिल्पी का या दर्शक का ? यह सबका है जिसमें जितनी सर्जना-कल्पना शक्ति हो, उसके प्रयोग के लिये यह क्षेत्र देता है ।

मैंने स्वयं पहली वार अपने इस नाटक को खेला है । यह मेरी रचना-प्रक्रिया ही है । मैं नाटक को मंच पर सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष प्रस्तुत कर इसकी रचना-प्रक्रिया को पूरी करता हूं । मैं इसमें सर्वत्र हूं, और कहीं भी नहीं हूं । यही मेरी सीमा है और यही मेरा सामर्थ्य है । इसीलिए मैं अपने प्रस्तुतीकरण के सीमित अनुभवों को आपके सामने नहीं रखना चाहता ।

इसका हर प्रस्तुतीकरण इसका नया जन्म होगा और हर निर्देशक, अभिनेता और रंग-शिल्पी इसका स्वतंत्र रचनाकार होगा । मैं कहीं भी बीच में नहीं आता । यह कृति आपकी है, मैं केवल माध्यम था ।

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 39869
Date 21.6.72
SIMLA

Library IIAS, Shimla
H 812.8 L 15 K
00039869